[आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के पच्चीसवे वर्ष के उपलक्ष्य मे]

मान-समीक्षण

☐

आचार्य श्री नानेश

☐

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर-३३४००१ (राजस्थान)

☐

प्रथम सस्करण . १९८७

☐

मूल्य दस रुपये

☐

मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-३०२००३

प्रकाशकीय

साधुत्व की पवित्र धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बडे-बडे आचार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्राति का प्रसग आया है, जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा है। ऐसी क्रान्ति-धारा मे क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा का नाम विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बडे-बडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म सा ने उपदेशो से नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे वरन् श्रमण सस्कृति के गहरे अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। 'तिन्नाण तारयाण' के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधु मार्ग मे क्राति घटित हुई, जो पश्चातवर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी।

हमे बडी प्रसन्नता है कि इसी परम्परा के अष्टम आचार्य समता विभूति, विद्वत् शिरोमणि, जिनशासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म सा के सान्निध्य की आज हमे प्राप्ति हुई है। आचार्य श्री का व्यक्तित्व एव कर्तृत्व अनूठा व महनीय है। आचार्य प्रवर ने अपने आचार्यपद के 25 वर्षो की अवधि मे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये है। साधुमार्गी श्रमण सघ को निरन्तर विकसित कर उसे रत्नत्रय की साधना से सजोया-सवारा और निखारा है। सत्-साहित्य के माध्यम से भी आपने बहुविध विधाओ मे जन-मन को प्रेरणा दी है एव दिशा निर्देश किया है।

शान्त क्रांति के अग्रदूत स्व० आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की । ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है । हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे अ भा साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है । इसी सकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के 25वे वर्ष के उपलक्ष्य मे प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सतुष्टि का अनुभव कर रहा है ।

जैन-दर्शन मे आत्म-पुरुपार्थ द्वारा परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है । यह परमात्म तत्त्व प्रत्येक जीवात्मा मे निहित है पर काषायिक प्रवृत्तियो के कारण वह सुषुप्त बना रहता है । कषाय पर विजय प्राप्त करना ही परमात्म तत्त्व से साक्षात्कार करना है । कषाय के मुख्य चार प्रकार है --क्रोध, मान, माया और लोभ । क्षमा, विनम्रता, सरलता और सन्तोष जैसे आत्मगुणो का विकास कर इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है ।

कपाय चतुष्क मे मान कषाय द्वितीय है । आचार्य श्री ने इस कृति मे मान मनोविकार के स्वरूप, प्रकार, उत्पत्ति, अभिव्यक्ति, दुष्प्रभाव एव उसके शमन/विजय के उपाय आदि बिदुओ पर लोक एव शास्त्र तथा धर्म एव मनो-विज्ञान के धरातल पर अनुभूतिपरक समीक्षण प्रस्तुत किया है जो पाठको व साधको के लिए समान रूप से उपयोगी है । इसके लिए सघ आचार्य प्रवर के प्रति अनन्त श्रद्धा समर्पित करता है । साथ ही आचार्य प्रवर के मुखारविन्द से प्रस्फुटित होने वाली प्रस्तुत अभिव्यक्ति को विद्वद्वर्य श्री विजयमुनि जी म सा एव सेवाभावी श्री प्रकाश मुनि जी म सा ने लिपिबद्ध किया, उनके प्रति सघ आभारी है ।

इस कृति के प्रकाशन-सम्बन्धित प्रबन्धन-सम्पादन मे डॉ नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया तदर्थ वे धन्यवादार्ह है ।

आशा है, यह कृति मान-शमन मे हमारा पथ-प्रदर्शन करेगी और इससे मान-विजय की प्रेरणा जागेगी ।

चुन्नीलाल मेहता	धनराज बेताला	गुमानमल चौरड़िया
अध्यक्ष	मत्री	सयोजक, साहित्य समिति

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

मान-समीक्षण

जे कोहदसी से माण दसी

बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन अतीव सुकोमल एव लचकीला होता है। उसमे भी जहाँ तक मानस-तत्र का सबध है, उससे समुत्पन्न होने वाली तरगे अत्यधिक सुकोमल होती है। वे तरगें शब्दोल्लेख से परे हैं। उनका यथार्थ मूल्याकन अभिव्यक्त करने मे शब्द समर्थ नही है। वृत्तियाँ क्षण-क्षण मे परिवर्तित होती रहती है। ऐसी वृत्तियो को भी सशक्त बनाने वाली एक ऐसी वृत्ति है कि उसकी समुपस्थिति मे अन्य वृत्तिया भी लचक नही खा सकती। जब वृत्तिया ही लचक नही खा सकती हैं तो मानस-तत्र एव शरीर का नम्र होकर झुकना कठिनतर बन जाता है। उस वृत्ति से अधिक विकार उत्पन्न होते हैं, जिनमे अत्यधिक प्रचलित एक विकार का नाम अभिमान है।

अभिमान की अवस्था जब अत्यन्त दृढीभूत बनती है उस समय उसे लचकीला बनाने मे कोई विरल व्यक्ति ही कामयाब हो सकते हैं। वह वृत्ति जब पाषाण-स्तम्भ की भाँति बन जाती है, तब उस वृत्ति वाला पुरुष इतना अकडबाज बन जाता है कि जिसे झुकने का नाम सुनना भी नही सुहाता, झुकना-नम्रता धारण करना तो दूर की बात रही। उस अभिमान वृत्ति से मानस-तत्र पूर्ण रूप से प्रभावित बन जाता है। उस समय विनयादि सद्गुण लुप्त हो जाते है। मानव के आन्तरिक स्वरूप मे स्वाभाविक कोमलता होते हुए भी मानवृत्ति मानो चट्टान से अधिक कठोर हो जाती है। इस कठोर वृत्ति के कारण मानव अपने आपको विनष्ट करना पसन्द कर लेगा, पर झुकना पसन्द नही करेगा। इसी निष्ठुर-कठोर वृत्ति के कारण व्यक्ति अनेक दु खो का भाजन बन जाता है। परिणाम स्वरूप अनेक विपत्तियाँ, आपत्तियाँ, दु ख और द्वन्द्व की अवस्थाएँ निर्मित कर लेता है। वैसी अवस्था मे विचारो का प्रवाह भी अति कठोर एव क्रूर बन जाया करता है। कितनी भी दिल को दहलाने वाली अवस्था क्यो न आये, उसके मन मे जरा भी कोमलता की वृत्ति उभर नही सकती, क्योकि तीव्र अभिमान वृत्ति से कोमलतादिक वृत्तियाँ आच्छादित रहती है। कभी-कभी पारिवारिक एव सामाजिक परिस्थितियाँ दयनीय बन जाती है। एक अभिमानी व्यक्ति के अभिमान के फलस्वरूप परिवार, समाज एव राष्ट्र का अहित कितना ही क्यो न हो, उस अहित को भी वह अभिमानाध पुरुष देख नही पाता। उसे कितना ही समझाया जाय, प्रथम तो वह समझ ही नही सकता, कदाचित् जनहित को समझने की वृत्ति उसके अन्तर मे अकुरित भी होती है तो अभिमान की वह कठोर वृत्ति उस

अकुरित वृत्ति को निर्दयता पूर्वक विनष्ट कर डालती है। सीता को लौटाने के लिए मदोदरी ने रावरण को बहुत समझाया । लौटाने की वृत्ति उसके मन मे उत्पन्न भी हुई, किन्तु रावण की उस क्रूर अभिमान वृत्ति ने उसे दबा दिया। वह सीता को लौटा नही सका। परिणामस्वरूप कितना भीषण सघर्ष एव सहार हुआ, यह सुज्ञ जनो को विदित ही है।

इसी प्रकार के कई ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक घटनाचक्र शास्त्रो तथा ग्रन्थो से विदित किये जा सकते है। वर्तमान मे भी ऐसे काण्ड अनुभूति मे आ सकते है। एक समय मै बालेश्वर दुर्गावता मे शेष काल मे रुका हुआ था। उस समय वहाँ एक बहुत साधारण कारण को लेकर सामाजिक क्लेश फैला हुआ था। उस सघर्षमय क्लेश से बालेश्वर सत्ता और बालेश्वर दुर्गावता प्रभावित थे। उस सघर्ष से सबधित प्रमुख व्यक्तियो से परामर्श किया। उससे निष्कर्ष यह निकला कि उसमे लेन-देन सबधी कोई वस्तु नही थी, मात्र अमुक व्यक्ति समाज-हित की दृष्टि से स्वाभिमान को गौण कर दे तो समग्र सघर्ष और क्लेशमय वातावरण समाप्त हो सकता है और अनेक व्यक्तियो को होने वाले अनावश्यक कर्म-बधन रुक सकते है। अतएव उनसे वार्तालाप करने के प्रसग पर पूछा गया कि वह व्यक्ति कहाँ है ? लोगो ने कहा—वह यहाँ आ नही सकता। बहुत बीमार है। आपके दर्शनो का इच्छुक भी है। आप वहाँ पधारे तो कुछ बात हो सकती है।

जब आचार्य भगवान् उसके घर दर्शन देने हेतु पहुँचे तो वहाँ उसे देखा। वह वृद्ध होने के साथ ही रुग्णतावश चारपाई से उठ भी नही पा रहा था। उसके सामने सक्षेप मे सम्पूर्ण वृत्तात रखते हुए कहा—समाज की भलाई के लिए इस बात को गौण कर दो और ये सब बाते मेरी झोली मे छोड दो। अन्य सब शान्ति स्थापना के लिए तैयार है। केवल आप ही की उदारता की आवश्यकता है। तब वह बोला—महाराज सा ! यह नही हो सकता। मै जब तक जीवित हूँ तब तक यह होने का नही।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त बताते हुए कहा गया कि इस प्रकार की मनोवृत्ति जीवन-समाप्ति तक रह जाती है तो वह पुरुष सम्यक्त्वी तो नहीं रहता सो नही रहता, ऐसी कठोर वृत्ति के परिणामस्वरूप अग्रिम आयुपवध-नरकादिक गति का कर सकता है। तब उसने कहा—भले ही नरकादि गति मे चला जाऊँ पर इस बात को मै छोड नही सकता।

यह तो एक प्रत्यक्ष का उदाहरण है। विश्व मे ऐसे कई पुरुष निकल सकते है, जिन्होने इस प्रकार की अभिमान वृत्ति से स्व-पर की दुर्गति के द्वार उद्घाटित किये है और कर रहे है।

यह अनतानुवन्धी अभिमान का लक्षण है। किन्तु कई भव्य प्राणी अप्रत्याख्यानी अभिमान से भी प्रभावित होते हैं। उनके मन मे भी इस वृत्ति से कठोरता आ जाती है, किन्तु वह जीवपर्यन्त टिकने योग्य नही होती। अधिक से अधिक वारह मास की अवधि मे सावत्सरिक पर्व के प्रसग से समाप्त हो जाती है। इस प्रकार की कठोरता को काष्ठ-स्तम्भ की उपमा दी जा सकती है।

काष्ठ-स्तम्भ को पानी से आर्द्र करने या अन्य किसी उपाय से मोडा जा सकता है, वैसे ही जिस भव्य जीव को सम्यक्त्व का बोध यत्किचित् भी सम्यक्तया है, वह वारह मास की अवधि मे इस अभिमान की वृत्ति को छोडकर सम्यक्त्व को सुरक्षित रख सकता है।

तीसरी श्रेणी प्रत्याख्यानी अभिमान की है। उसमे भी आपेक्षिक कठोरता तो रहती ही है किन्तु वह कठोरता वेत की लकडी की भाति होती है। इसमे स्वाभाविक लचक की स्थिति रहती है। वारह मास के अन्दर ही, चौमासिकादि पर्व तिथियो पर वह गल जाती है। ऐसी वृत्ति श्रावक व्रत को स्वीकार करके चलने वाले वर्ग की होती है।

अभिमान की चतुर्थ वृत्ति सज्वलन रूप है। उसे वास के छिलके की या घास के तृण की उपमा दी जा सकती है। पैदा होते ही अन्तर्मुहूर्त के अन्दर-अन्दर वह विलय को प्राप्त हो जाती है। अधिक से अधिक काल तक रह भी गयी तो पक्ष की समाप्ति पर प्राय समाहित हो जाती है। सतवर्ग अपने सयमी जीवन को सन्मुख रख करके चलता है। कदाचित् किसी निमित्त से इसके मन मे अभिमान की वृत्ति पनपने लगती है तो वह अन्तरवलोकन के समय उस वृत्ति को पहचान कर समाप्त कर देता है। कदाचित् अन्तर की उस वृत्ति का सम्यक्तया अवलोकन न हुआ हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय अवलोकन कर ही लेता हे और जागृत साधक को कर ही लेना चाहिए। यदि पाक्षिक प्रसग पर भी इस वृत्ति का साधु सवरण नही कर पाता है तो वह अपनी साधुवृत्ति मे न्यूनता लाता है और आन्तरिक उपलव्धियो से वचित वनता है। अतएव प्रत्येक सुज्ञ पुरुष को अपनी स्वाभाविक आन्तरिक समल-निर्मल वृत्तियो का अवलोकन करते रहना चाहिए, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता साधता हुआ आत्मिक स्वरूप की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहे।

अभिमानादिक दुर्वृत्तियाँ पर-सापेक्ष हैं, आन्तरिक विकार से जन्य हैं। यथार्थ ज्ञानाभाव मे चैतन्य देव स्वय अपने स्वरूप को—निजी स्वभाव को विस्मृत कर देता है। तभी इस प्रकार की वृत्तियो का प्रादुर्भाव होता है। अज्ञता या अल्पज्ञतावश वह शुद्ध आत्मस्वरूप को भलीभाति नही समझने के कारण अन्य को हीन मानता है एव स्व को महान् न होने पर भी महान् मान वैठता है। ऐसे पुरुष की दृष्टि अन्य के प्रति समानता की न होकर विषमता की होती है।

उसी के अधीन होकर कभी वह अन्य मानवो या प्राणियो को निमित्त बनाकर अभिमान वृत्ति को जन्म देता है तो कभी जड पदार्थों-भौतिक सम्पत्ति एव सत्ता को प्रश्रय देकर अभिमान के झूले मे झूलने लगता है। वह यह नही सोच पाता है कि ये पर-पदार्थ, सत्ता या सम्पत्ति न मेरी है, न होगी। मैं क्यो व्यर्थ ही इन कल्पित सयोगो से अपने आपके ऊपर उपाधि लाद रहा हूँ। इससे न मेरी आत्मा का और न पर का हित होने वाला है प्रत्युत् अन्य अनेक जहरीलो वृत्तियाँ मेरे जीवन मे इनके सहारे पनपेगी। इन उपाधियो के साथ अपने आप को लिप्त करना जीवन के सम्यक् विकास से हाथ धोना है।

इस अभिमान-वृत्ति के पनपने से विनय वृत्ति का लोप होगा एव विनय वृत्ति के अभाव मे सद्‌गुणो की प्राप्ति नही होगी सो तो नही ही होगी। किन्तु दुर्गुणो को अभिवृद्धि अवश्यमेव होगी। दुर्गुण एक ऐसा सक्रामक रोग है कि जिससे अन्य प्राणी भी प्रभावित हुए बिना नही रहते। ऐसे रोग को पनपने देना किसी तरह से भी स्व-पर के लिए लाभदायक नही है। यह अभिमान रूप वृत्ति जैसे ही मन मे प्रादुर्भूत होती है वैसे ही इससे सबधित कर्मो का सचय होता है। वह कर्मो का सचय सत्ता मे बना रहता है। जब अबाधाकाल आता है तब उदय मे आकर पुन आत्मा को उसी प्रकार के रोग से ग्रसित कर देता है।

अभिमान से प्रभावित आत्मा पुन अभिमान योग्य कर्म-पुदगलो का सचय करती है। यथा—बीजो से फसल और फसल से कई गुणित बीजो की उपलब्धि होती है। इसमे निमित्त बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो ही हो सकते है। बुद्धिमान् पुरुषो का कर्तव्य है कि पूर्व के अभिमान सबधी कर्म-दलिको को समाप्त होने दिया जाय, परन्तु अकुरित अभिमान को फलित न किया जाय, यथा—अनाज के अकुरित होने पर कृषक उनका सरक्षण पोषण न करे तो परिपक्व फसल से अनाज की अभिवृद्धि नही होती। यह व्यवहार तभी सभव हो सकता है जबकि कृषक को अधिक अनाज पैदा करने की चाह न हो।

इसी प्रकार साधक मे आन्तरिक जागृति उत्पन्न हो जानी चाहिए कि मुझे पूर्व के अभिमान सबधी कर्म-दलिको को समाप्त करना है तथा नये अभिमान सबधी कर्म-दलिको का सचय नही होने देना है। ऐसी अन्तश्चेतना जिसकी बन जाती है वह अपने आपको इस प्रकार जागृत बना लेता है कि जिससे अभिमान सबधी कर्मदलिको के कार्यकारणभाव को भलीभाँति जान सके और देख सके। उनको नष्ट करने के लिए यथायोग्य सत्पुरुषार्थ कर सके। यह कार्य तभी सफलीभूत होगा जब समीक्षण-ध्यान के माध्यम से निरन्तर समीक्षण दृष्टि को पैनी बनाया जाए।

कापायिक चतुष्क (चौकडी) मे अभिमान का गणित की अपेक्षा द्वितीय स्थान है। क्रोध का स्थान प्रथम है। अतएव क्रोध का समीक्षण हुए बिना मान

का समीक्षण सम्भव नही, क्योकि क्रोध की अभिव्यक्ति आम जनता मे शीघ्रता से अनुमानित हो जाती है। किन्तु अभिमान की अभिव्यक्ति का बोध उतना सहज नही है।

क्रोध की अपेक्षा अभिमान की अभिव्यक्ति को समझने के लिए अधिक पैनी दृष्टि की आवश्यकता है। किन्तु क्रोध को देखते ही प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि के साथ इतनी सक्षम हो जाती है कि फिर मान को देखने मे सुगमता आ जाती है। इसीलिए प्रभु महावीर ने उद्‌घोष किया कि "जे कोह दसी से माण दसी" जो पुरुष क्रोध को देखता है वही मान को देखता है।

क्रोध को देखने मे नियत समय की आवश्यकता रहती है। साथ ही क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए उसके निजी स्वरूप देखने की आवश्यकता होती है। वह कर्म-दलिक के रूप मे भी होता है और भावरूप मे भी। उभयावस्था का क्रोध क्रोध-समीक्षण मे जाना जा सकता है।

क्रोध का सम्यक्‌तया समीक्षण हो जाने पर मान-समीक्षण किस प्रकार करना चाहिए, एतदविषयक वर्णन यत्किचित् रूप मे अग्रिम विवेचन से विदित किया जा सकता है। अतएव मान-समीक्षण की अभिलाषा रखने वाले साधकों को एकाग्रतापूर्वक चिन्तन-मनन के साथ अवलोकन करते हुए अभ्यासरत बनने की आवश्यकता है।

मान की परिभाषा

मान आत्मा की विकृत वृत्ति है। सहज स्वाभाविक चैतन्य वृत्ति को विभाव रूप विकृत बनाने वाले कर्म-स्कध जब अहकार के रूप मे परिणत होते है, तब उन कर्मस्कन्धो को मानसज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार के कर्मस्कन्ध आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर-नीर की भाति मिले हुए रहते है। जब तक इनका सत्ता रूप मे अवस्थान रहता है, तब तक इनका परिणाम मानसिक धरातल पर नही आता। जब स्थितिपाक होने पर वे उदयगत होते है, अर्थात् फल प्रदान करते है, उस वक्त इनका सूक्ष्म परिणाम आत्मा के स्वाभाविक निजगुण नम्रता को कुण्ठित कर देता है। इस परिणाम का विज्ञान साधारण व्यक्तियो को ज्ञात नही हो पाता। जब तक यह अवस्था रहती है तब तक मानसिक धरातल पर नम्रता की आभा झलकती है जिससे कि उसके विचारो मे आशिक नम्रता का यदा-कदा पुट लगता है एव वाणी के माध्यम से भी नम्रता सम्बन्धी स्वर यदा-कदा निकल पडता है और कायिक आचरण मे भी इनका आशिक रूप से व्यवहार हो सकता है। यह एक प्रकार के मान के स्वरूप की परिभाषा एव तज्जन्य सूक्ष्म परिणाम की बात हुई।

यो तो मान के असख्य प्रकार है। इन असख्य प्रकारो के हेतु रूप कर्म-स्कन्धो की तीव्रता, मदता आदि विविध अवस्थाएँ अध्यवसायो पर निर्भर रही हुई है। सत्तागत मान के स्कन्ध उदयगत होते है, उस समय उनका प्रभाव मन को प्रभावित करता है। बाहर का कोई आधार नही मिलने पर भी पुरुष अपने आपको अभिमान की अवस्था मे अनुभव करता है। इसमे अपने आपको अधिक मान लेने के कारण आगे के विकास का द्वार अवरुद्ध होता है। ऐसी वृत्ति के वनने पर मानस-तन्त्र से सम्वन्धित सभी वृत्तियाँ, जो विकासोन्मुख थी, वे ह्रासोन्मुख हो जाती है। उससे जीवन पर घातक असर होता है। नवीन-नवीन वृत्तियो के सहारे जो विशेष उपलब्धि होने वाली थी, वह तो अवरुद्ध हुई सो हुई, किन्तु जिन वृत्तियो का अवनत अर्थात् अधोमुख होने का प्रसग आया वे वृत्तियाँ धीरे-धीरे शिथिल होने लगती है। इस प्रकार मानस-तत्र की वृत्तियो के शिथिल होने से अन्य शारीरिक तत्र भी अपनी वृत्तियो सहित शिथिल बन जाते है। यह रफ्तार (गति) अवसर्पिणी ह्रासशील काल की तरह सभी शारीरिक अवयवो को दिन प्रतिदिन ह्रासोन्मुख बना देती है। इसका दुष्परिणाम समग्र शरीर पर भी पडता है। ज्ञानवाहिनी एव रक्तवाहिनी नाडियाँ सिकुडने लगती है, रक्त का सचार तीव्र व मद बना सकता है और कभी हार्ट का दौरा भी सम्भव हो सकता है। मस्तिष्क तनावपूर्ण स्थिति मे आ जाता है क्योकि आगे के विकास को अवरुद्ध कर लेने से उसके पास अतिस्वल्प ज्ञान रह जाता है। अन्य कोई उससे जानकारी चाहेगा तो उस समय उसका समीचीन उत्तर नही सूझे। समीचीन उत्तर के अभाव मे अन्य उत्तर देने पर वादविवाद का होना सम्भव होगा। उस समय वह पुरुष अपनी ही जानकारी की पकड के कारण अपने अह को शिथिल नही कर पायेगा। दूसरी तरफ से होने वाले प्रतिकूल व्यवहार को भी सहन नही कर पायेगा, जिससे चिन्ता, तनाव आदि अवस्थाएँ रहनी प्रारम्भ हो जायेगी। इस सिलसिले के अधिक समय बने रहने पर मानसिक रोग के साथ-साथ आयु के नियत समय से पहले जल्दी उपभोग करने का निमित्त भी बन सकता है। इस प्रकार यह उदयगत मान पुरुष के लिए उपर्युक्त रीत्या घातक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार बाह्य वायु मण्डल मे तरगित होने वाली तरगे उस पुरुष के अह को अव्यक्त रूप से आघात पहुँचाने की स्थिति मे पहुँचती है, उद्वेलित करती हैं। उस समय वह पुरुष तिलमिला उठता है। प्रतीकार करने के लिए वह तत्पर बनता है। उत्पन्न हुई प्रतिरोधात्मक शक्ति और पूर्व तनाव आदि से प्रभावित होने से पाचन-तत्र के कार्य सचालन की क्षमता अस्तव्यस्त बन जाती है। परिणामस्वरूप खाद्य पदार्थो के रस से शरीर को सपुष्ट करने वाली जो धातुएँ निर्मित होने वाली होती है, वे सम्यक् रूप से नही निर्मित हो पाती। परिणाम यह होता है कि शारीरिक सामर्थ्य को टिकाए रखने की क्षमता दिन-

प्रतिदिन क्षीण होती रहती है। सरक्षण शक्ति के अभाव मे 'शरीर व्याधिमदिरम्' वन सकता है। क्योकि शरीर के अन्दर ऐसी भी सरचना है जिससे शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य का सरक्षण होता है। वाहर से आने वाले शरीर के प्रतिकूल तत्त्वो पर वह रोक लगाती है।

शरीर तभी कामयाव हो सकता है जब उस सरचना को आवश्यकतानुसार रसादि से पुष्टि प्राप्त होती रहे। यदि आवश्यकतानुसार रसादि नही मिले तो समग्र जीवन ही समस्याओ से परिव्याप्त भारस्वरूप एव दु ख-द्वन्द्वमय वन जायगा।

मान वृत्ति एक मधुर पॉयजन है—(मीठा विष है) ऊपर से यह रुचिकर ज्ञात होता है पर इसका परिणाम उपर्युक्त तरीके से घातक होता है। यद्यपि इसके सरचना सम्वन्धी कर्मस्कन्ध, सूक्ष्मतर हैं, पर जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने मे तीव्र हैं। इस प्रभाव से शारीरिक हानि के अतिरिक्त आर्थिक हानि भी कम नही होती। क्योकि अर्थोपार्जन मे शारीरिक तन्त्र का वहुत वडा योगदान रहता है। शारीरिक चिन्ता की दशा मे वह योगदान नही मिल पाता। इससे आर्थिक कृशता भी पनपती जाती है। यशो-कीर्ति को भी घुन लग जाता है। परिवार, समाज एव राष्ट्रीय कर्तव्यो का विस्मरण होने से सर्वत्र अवज्ञा एव अपमान ही पल्ले पडता है। ऐसा पुरुष तन्मयतापूर्वक धार्मिक क्रिया तो कर ही कैसे पायेगा।

मानग्रस्त मानव, धार्मिक क्रिया करना तो दूर रहा, धार्मिक शिक्षा को श्रवण करने का भी अपात्र वन जाता है। आगम मे कहा गया है —

> "अह पचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई।
> थंमा कोहा पमाएण रोगेणाल स्सएणय।।"
>
> उत्तरा —११-३

इन पाँच स्थानो-कारणो-दोपो से युक्त प्राणी शिक्षा प्राप्त नही कर सकता, यथा —अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य।

शिक्षा प्राप्ति मे अभिमान अधिक घातक होने से शास्त्रकार ने यहाँ उसे सवसे पहले रखा है।

अतएव मान का स्वरूप और इसके दुष्परिणाम उल्लिखित सक्षिप्त विवरण से भलीभाति जाने जा सकते है।

मान के आभ्यन्तर एव वाह्य निमित्त

आभ्यन्तर निमित्त है—मान सम्वन्धी कर्मदलिको की (स्कन्धो की) स्थिति

समाप्त होने पर उदय मे आना अथवा अन्तर की किसी विशिष्ट शक्ति का प्राप्त होना आदि। आभ्यन्तर निमित्त मान के उदय मे सहायक होते है। बाह्य निमित्त विविध प्रकार से मान के दलिको को उदय मे लाने के लिए सहायक बन जाते है। किसी को कुछ आवश्यक वस्तु लाने के लिए कहा और उसने इन्कार कर दिया। उसकी इन्कारी भी मान को उद्वेलित कर सकती है।

व्यापार मे अतराय कर्म के क्षयोपशम से कुछ उपलब्धि हो गयी तो उस समय व्यक्ति उस उपलब्धि के निमित्त से अहकार की पुष्टि कर बैठता है। कदाचित् समाज मे वक्तव्य देने की किञ्चित् कला आ गयी तो वह फूला नही समाता और अपने आपको बहुत बडा वक्ता मान बैठता है। कभी-कभी कुछ व्यक्ति उसको अपना प्रतिनिधित्व दे देते है। तब तो फिर कहना ही क्या ? चचल मर्कट की भाँति कूदने लगता है। कदाचित् सयोगवश सरपच बन जाता है, तो फिर हवा से बाते करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति को तिरछी निगाह से देखता हुआ यह जतलाता है कि मुझ से कोई टकराव मत लेना। टकराव लेने वाले को मैं तहस-नहस कर सकता हूँ। अधिक आगे बढने पर नगरपालिका का चेयरमैन बनने का प्रसग आ गया तब तो मानो वह नगर का जागीरदार बन गया।

पैसो के बल पर या छल-बल से कदाचित् विधानसभा के चुनाव मे विजयी हो गया—एम एल ए. बन गया तो उसका अह कई गुणा अधिक बन जाता है। मुख्यमत्री अथवा प्रधान मत्री बनने का प्रसग आ गया तो फिर कहना ही क्या ! 'मैं चौडा—गली सँकडी' वाली कहावत को चरितार्थ करने लगता है। कभी कोई व्यक्ति पूर्व जन्म के पुण्य से, प्राप्त धन से, कदाचित् आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति का कुछ सहयोग कर देता है तो उस व्यक्ति को सदा हीन दृष्टि से देखने लगता है। प्रति समय अपना अहसान जतलाता रहता है। कोई व्यक्ति किसी को कुछ कह देता है और काकतालीय न्याय से उससे उस व्यक्ति की समस्या कुछ हल हो जाती है और कृतज्ञतावश उसके मुख से ये शब्द निकल पडते है कि आप बडे बुद्धिशाली हैं। आपने बहुत अच्छा सुझाव दिया, मेरा कार्य बन गया इत्यादि, तो यह श्रवण कर वह अपने आपको बहुत बडा विद्वान् समझने लगता है। कानून विषयक कोई बात सत्य हो जाती है, तो अपने आपको वकील मान बैठता है। दो पुरुषो के लडाई-झगडे के मध्य सहजता से कोई शब्द नि सृत हो गया, दोनो के लडाई-झगडे के निवारण मे वह हेतु भूत बन गया और दोनो व्यक्तियो ने कहा—भाई, आपकी सूझबूझ तो एकदम अनोखी है ! इस बात को श्रवण कर मानी मानव सोचने लग जाता है कि मैं सुप्रीम कोर्ट (सर्वोच्च न्यायालय) का जज हूँ। कोई व्यक्ति कुछ धार्मिक क्रियाएँ करने लगता है और उसकी वह क्रियाएँ अभी वर्णमाला के तुल्य भी

नही हैं। फिर भी किसी साधारण व्यक्ति ने उससे कह दिया कि आप बडे धर्मात्मा व्यक्ति हैं, तो फिर वह सोचने लगता है कि मेरे समान धर्मात्मा अन्य कोई नही है। किसी ने पाच, सात उपवासादि कर लिए और लोगो के मुह से 'तपस्वी' शब्द का प्रयोग किया गया तो वह सोच बैठता है कि मुझ सम कोई तपस्वी नही है। मैं किसी को भी शाप देकर भस्मीभूत कर सकता हूँ। वरदान प्रदान कर निहाल कर सकता हूँ, इत्यादि। इस प्रकार मानवो के मन मे विभिन्न कारणो से मान की वृत्तियाँ उद्भूत होती रहती है। वे मान रूपी मधुर विष से मूर्च्छित, बेहोश बने रहते है। उस बेहोशी मे उनको अपनी वास्तविकता का विचार तक नही आता कि मैं वस्तुत किस धरातल पर स्थित हू। मेरा कैसा व्यवहार है ? क्या मैं कर रहा हू ? यह मेरा वर्तन किन भावो का द्योतन एव किस दशा का सूचन करने वाला है ? मैं घोरातिघोर अज्ञानाधकार मे भटक रहा हू या प्रकाश के सन्मुख हूँ ? मेरी दृष्टि वस्तु स्वरूप को समझने मे सक्षम है या कि कर्तव्य विमूढ है ?

अभिमान के निमित्त

अभिमान का उपादान कारण तो स्वय आत्मा है किन्तु उसके निमित्त कारण मुख्यतया दो प्रकार के है—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर।

बाह्य निमित्त अनेकानेक एव अनियत हैं। उनमे व्यक्तियो का सम्पर्क भी एक कारण है। इर्द-गिर्द आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति रहेगे तो वे व्यक्ति अभिमान के निमित्त जायेंगे। पच पचायत मे विशेष बोलने वाले न रहे, एक ही व्यक्ति कुछ अधिक बोलने वाला हुआ तो नही बोलने वाले व्यक्ति बोलने वाले के मन मे अभिमान को जागृत बनाने मे निमित्त बन जायेगे। कुछ व्यक्ति किसी व्यक्ति के कुतर्कों का समीचीन प्रत्युत्तर न दे पायें और गुणानुवाद कर दे तो उस से भी अभिमान के उभरने मे सहायता मिलती है। गृहस्थाश्रम मे रहते हुए कई पुरुष त्याग-प्रत्याख्यान एव किंचित् भी धर्मसाधना नही कर पाते। उनमे से यदि कोई व्यक्ति यत्किंचित् कुछ त्याग करता है, यथा – ऊपर से नमक न लेना, भोजन न मागना, नियमित सामायिक कर लेना आदि। इन कार्यों को देखकर अन्य, जो यह कार्य न करने वाले हैं, वे कहते है—'साहब ! यह तो बहुत बडे त्यागी है, ऊपर मे नमक नही लेते है। यह भोजन मागते नही है और सामायिक नित्य करते है।' ऐसा कथन भी अल्प सत्त्व वाले व्यक्ति के लिए अभिमान का निमित्त बन जाता है। ऐसा निमित्त पुन पुन मिलने से वह पुष्ट होता चला जाता है। कभी-कभी अल्प सत्त्व वाले व्यक्तियो के लिए उत्तम जाति का प्रयोग भी अभिमान का कारण बन जाता है। किसी परिवार मे कौटुम्बिक जन की सख्या बढ जाने मे भी अज्ञ जनो के मन मे अभिमान की भावना जागृत हो जाती है। कभी कोई पुरुष कुछ कमजोर व्यक्तियो को गिरा देता है अथवा उनके साथ

हाथा-पायी करने मे बलशाली होता है तो वह भी अभिमान का निमित्त बन जाता है । बौद्धिक क्षमता रखने वाला अधूरा विद्वान् कभी-कभी अन्यो को वाद-विवाद मे परास्त कर देता है, तब उनकी पराजय और अपनी जय स्वरूप अभिमान की जागृति हो जाती है । इसी प्रकार के अन्य भी कई बाह्य निमित्त अभिमान को उत्तेजित करने वाले बन जाते है ।

यद्यपि ये बाह्य निमित्त तभी कामयाब होते है, जब कि मान सम्बन्धी कर्म-वर्गणा के स्कन्ध आत्मा के साथ विद्यमान रहते है । यथा —कुछ रोगाणु शरीर मे व्याप्त होकर स्वास्थ्य सरक्षक परमाणुओ को शिथिल एव कमजोर बना देते है । तब फिर अन्य स्थलो पर रहने वाले रोगाणु भी भीतर के रोगाणुओ को सबलता प्रदान कर शरीर को रोगग्रस्त बना देते है । यदि भीतर मे रोगाणुओ का अवस्थान यत्किंचित् भी न रहे तो स्वास्थ्य सरक्षक परमाण शिथिल एव निर्बल नही बन पायेगे । परिणामस्वरूप अन्य स्थल पर निवास करने वाले रोगाणु कितना ही बल क्यो न लगाएँ, शरीर को रोगग्रस्त करना चाहे, पर वे उसमे कतई सफलता प्राप्त नही कर सकते । उनकी समग्र शक्ति विफल सिद्ध होती है । वैसे ही मान-स्कन्ध जब तक अन्तरग मे विद्यमान है तब तक उससे आत्मीय-विवेक शक्ति विलुप्त सी रहती है । परिणामस्वरूप आत्मा को रुग्ण बनाने वाली वृत्तियो का प्रतीकार नही हो पाता और बाह्य निमित्तो का उन कमजोर वृत्तियो पर, प्रभाव छा जाता है । वे मान सम्बन्धी रोगाणुओ के प्रकट होने मे सहायक बनते है । इस दृष्टि से बाह्य निमित्त अपने कार्य मे सफल हो जाते है । यदि आत्मप्रदेशो से मान सम्बन्धी समग्र कर्मस्कन्ध वासना सहित न रहे तो कितने भी निमित्त उपस्थित क्यो न हो, उनसे मान सम्बन्धी कोई भी प्रक्रिया जीवन मे उभर नही सकती । अतएव बाह्य निमित्तो को सपुष्ट करने एव सबल देने वाले भीतर मे अवस्थित कर्मस्कन्ध है ।

मान के आभ्यन्तर निमित्त

कोई भी सबल निमित्त उपस्थित न हो किन्तु पूर्वबद्ध एव अन्तरग मे रहे तो मान सम्बन्धी कर्मवर्गणा के स्कन्धो की स्थिति समाप्त होने पर जब वे स्वाभाविक रूप से उदयावस्था को प्राप्त होते है तब उन मान सम्बन्धी कर्म-स्कन्धो के उदय होने पर सामान्य निमित्त से भी अध्यवसायो एव मानस तत्र पर प्रभाव होने लगता है । परिणामस्वरूप वे स्वय ही अपने आप से बडबडाने लगते है । मान सूचक शब्दोच्चारण भी मुख से होने लगता है । उसका दुहरा प्रभाव होता है । पहला तो मान की अवस्था मानस तत्र के माध्यम से शरीर के अन्दर ज्ञानवाहक नाडी तत्र मे तनाव उत्पन्न करती है जिससे कि तज्जनित पूर्व वर्णित मिष्ट पॉइजन का जीवन पर असर होता है । दूसरा यह है कि उस मान की अवस्था को सत्कार के साथ आदर देने से अन्य नवीन मानस्कन्धो का कई गुणा बन्ध हो जाता है ।

जैसे अनाज के एक बीज के अकुरित होने पर वह बीज तो समाप्त हो जाता है। परन्तु जब उसकी फसल परिपक्व होती है, तब अनेक नूतन बीज तैयार हो जाते है। इस एकदेशीय उदाहरण से समझा जा सकता है कि मान सम्बन्धी कर्मवर्गणाओ से कितने ही गुणा नवीन कर्म बन्धन की परिणति उत्पन्न होती है।

इन सभी दृष्टिकोणो का सही विज्ञान तभी हो सकता है जब मानव की दृष्टि 'समीक्षण' बन जाय। समभाव पूर्वक तटस्थता मे अपनी इन वृत्तियो को देखने का प्रयत्न करने पर ही उसे भासित होने लगेगा कि—मैं क्या कुछ कर रहा हूँ ? एक बूद पानी को घडे भर के रूप मे समझ रहा हूँ, तिल को ताड के रूप मे देख रहा हूँ, गदे पानी की बूद को निर्मल जल के रूप मे समझ रहा हूँ, नगण्य, यत्किचित् बातो को लेकर मैं अपने मानस तत्र को, ज्ञानादि केन्द्रो को मान रूपी मधुर जहर से प्रभावित करके निर्जीव बना रहा हूँ। इन विषम भावो मे मान का पोषण कर वर्तमान जीवन का अहित कर रहा हूँ एव भावी जीवन को भी गहनतम तमस् मे ढकेलने का उपक्रम कर रहा हूँ। आत्मा की स्फटिक विमल वृत्तियो को इस मीठे विष मे मलिन बना रहा हूँ। कहाँ तो मेरा यह अमूल्य नर-तन और कहाँ यह कूडा करकट एव अशुचि दुर्गंध युक्त पदार्थो की दुर्गंध के तुल्य ये मानसिक वृत्तियाँ। इन वृत्तियो से मैंने बुद्धि का ह्रास किया, विकास को अवरुद्ध किया। पवित्र भावनाओ का उपमर्दन किया, जीवन की अमूल्य घडियो को व्यर्थ मे विनष्ट कर दिया। अतएव समीक्षण दृष्टि को अपना कर मान रूप इस मधुर पॉइजन के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन कर मैं इससे बचने का सतत प्रयास करूँ।"

दुर्दान्त शत्रु मान

मान एक दुर्दन्त शत्रु है। सामान्य जनता सशक्त शरीर वाले बलवान् प्रतिपक्षी को दुर्दान्त शत्रु मानती है। पर वस्तुत सशक्त शरीर पिड वाला दुर्दान्त शत्रु नही हो सकता, वह तो शत्रु का माध्यम बनता है, हथियार या औजार बनता है। वास्तविक शत्रु शरीर के भीतर मानसतत्र पर उभरने वाले मान सम्बन्धी, कर्म स्कन्धो का उदय होना है। उनका प्रभाव मानसतत्र को प्रभावित करता है। जब मानसतत्र उस मान के अधीन बन जाता है तब उनका कार्य प्रतिक्षरण, प्रतिपल, मान रूपी दुर्दान्त शत्रु के कार्य को सम्पन्न करने मे लगा रहता है। मानसतत्र शरीर व्यापी है।

शरीर के प्रमुख अग पाच इन्द्रियाँ है। इन पाच इन्द्रियो के माध्यम से मानसतत्र इस खोज मे-टोह मे रहता है कि मेरे ऊपर जिसका प्रभाव है, उस प्रभाव मे कभी कही कमी न आने पावे। मैं हर समय उसके लिए सतत सावधान रहूँ और वह मानसतत्र मान के प्रवाह मे प्रवाहित हो कर चलता है। उस

समय अन्यान्य केन्द्रो सम्बन्धी कार्यो का वह मानसतत्र सम्पादन करता है। किन्तु उन अन्य कार्यो को निष्पन्न करता हुआ भी मान को ठेस न पहुचे, इस बात के लिए सतत जागरुक रहता है। यदि मान को किसी भी कार्य से स्वल्प भी चोट लगती है तो मानसतत्र अन्य केन्द्रो के कार्यो को छोड बैठता है और मान सम्बन्धी आघात की प्रतिक्रिया करने लगता है। उस प्रतिक्रिया के प्रवाह मे वह शरीरगत अन्य तत्रो का कुछ भी ध्यान नही रखता हुआ इतना कुछ कर बैठता है कि जिससे अपने सहयोगी तत्रो का भी दुरुपयोग करने लगता है। जब नेत्र के अन्यान्य कार्य करते हुए नेत्र के समीप मान का अनुयायी मानसतत्र यह अवलोकित करता रहता है कि अमुक रूपवान व्यक्ति अपने रूप के माध्यम से मेरे स्वाभिमान को चोट तो नही पहुचा रहा है, वह उस रूपवान व्यक्ति के हाव-भाव एव नेत्र आदि चेष्टाओ का सूक्ष्मता से अनुसधान करता है। जैसे 'करफ्यू' के समय सैनिक अधिकारी आने-जाने वालो की चौकसी करता है और यह देखता है कि ये आने-जाने वाले व्यक्ति करफ्यू के आदेश के प्रतिकूल नही कर रहे है। उसको ज्ञात हो जाय कि करफ्यू भग हो रहा है तो वह उस व्यक्ति को वही रोक देता है। उसके ऊपर प्राप्त अधिकारानुसार कार्यवाही करता है। ठीक वैसे ही एक दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो नेत्र के माध्यम से जो कुछ भी होता है उसका वह मानसतत्र बारीकी से अवलोकन कर, सभाला (तलाशी) लेता है। उसमे यदि यत्किचित् भी मान को ठेस पहुचाने वाली वस्तु अवलोकित करता है तो उसको अपने मानसतत्र के घेरे मे आरुद्ध कर लेता है। जब श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बद्ध मान से प्रभावित मानसतत्र के अवयव शब्द सम्बन्धी अन्वेषण मे तत्पर रहते है तब यदि उनको ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द मान को हानि पहुचाने वाले है तो उसकी सूचना मानसतत्र के केन्द्र मे पहुचाते है। केन्द्र की ओर से रसनातत्र के पास रहने वाले मानसतत्र को आदेश मिलता है कि बोलने वाला व्यक्ति अमुक तरह के शब्दो का प्रयोग न करे, एतद् विषयक ध्यान रक्खा जाए, यदि शब्द प्रयोक्ता आदेश को ध्यान मे रख लेता है एव मान के प्रतिकूल कुछ भी नही बोलता है, तब तो रसनातत्र के समीप रहने वाले मानसतत्र के अवयव तटस्थ होकर उसको, यानि सामने वाले व्यक्ति को बोलने देते है, किन्तु सामने वाले के मुख से निकलने वाले शब्दो का बारीकी से अवलोकन चालू रहता है। जब रसना इन्द्रिय के पास रहने वाले मानसतत्र के अवयवो को यह ज्ञात हो कि यह पुरुष इन्कार करने के उपरान्त भी मान के विपरीत शब्दो का रूपान्तरण नही कर रहा है, तब फिर उसकी सूचना मानसतत्र के केन्द्र को पहुचती है और वह केन्द्र अपने सहयोगी क्रोध को निर्देशन देता है कि मान के विपरीत सामने खडा पुरुष बोलना बद नही कर रहा है, शक्य प्रयत्न किये जा चुके है और वे सभी प्रयत्न विफल रहे है। अतएव अवसर आ गया है कि आप अपना बल शब्द रूपी एटम से दिखाए। उस समय क्रोध रूपी तत्र अपने माननीय साथी मान की सुरक्षा करने के लिए सारे मानस-

तंत्र पर अपना प्रभाव डालता है एव नयन लाल अगारे के तुल्य बना वीभत्स रूप धारण कर क्रोध अवस्था मे शस्त्र वरसाने लगता है और उस शब्द बोलने वाले व्यक्ति को उत्तेजक एव करारा उत्तर देता है। उसकी मानसिक वृत्ति को झकझोर देता है। मान को क्षति पहुचाने वाले शब्दो के प्रयोग को भूलकर वह भी अपने अन्तर्मन मे रहने वाले मान के साथी क्रोध को उद्वेलित कर देता है। परिणामस्वरूप उसके मुह से भी ऐसे शब्द नि सृत होने लगते हैं कि जिससे सामने वाले व्यक्ति के मानसतंत्र पर अधिक प्रहार हो। इस प्रकार परस्पर सघर्ष छिड जाता है। दोनो पुरुषो के होठ फडफडाने लगते है। दत-पक्तियाँ कटाकट करने लगती हैं। हाथ और पैर कापने लगते हैं। त्वचा मे ऊष्मा व्याप्त हो जाती है। नाक से गर्म वायु वेग से निकलने लगती है एव दोनो स्वय के स्वरूप को भूलकर युद्ध क्षेत्र मे उतर जाते है। इस प्रकार उन दोनो के मान का यह द्वन्द्व देखते ही वनता है। परिणामस्वरूप दोनो की इतनी क्षति होती है जिसकी सम्पूर्ति होना अति ही कठिन होता है। उन दोनो के मान मे से जिसकी सहयोगी शक्तिया अधिक प्रवल होगी वे शक्तिया प्रतिपक्षी मान एव क्रोध को दवा देगी। अपने आप पर प्रतिपक्षी की विजय नही होने देगी। अनुकूल अवसर मिलते ही वह पराजित-दवा हुआ मान पुन शक्ति के साथ उभरेगा और विजयी मान को पछाडने की चेष्टा करेगा। किसी समय उसे पराजित करेगा तो किसी समय स्वय पराजित होगा। इस प्रकार दोनो मान रूपी योद्धाओ की कुश्ती उन वडे वडे शारीरिक पहलवानो की तरह चलती रहती है।

दो पहलवान जव भिडते हैं तो एक दूसरे को क्रमश पछाडते रहते हैं। उस वक्त उन शारीरिक पहलवानो के वीच वाहर से दोनो के शरीर जूझते हुए दिखते है। दोनो के रोष-खरोश एव शब्दो की ध्वनिया कर्ण गोचर होती है। दोनो के शरीर पर घात एव प्रतिघात होता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यहा भी दोनो पहलवानो के अन्तर मे विद्यमान अपने-अपने वल को अभिमान का युद्ध ही ज्ञात होगा। उस युद्ध मे कोई भी मान स्थायी रूप से पराजय को प्राप्त नही होता, वरन् पराजय जनित ग्लानि उस शत्रुता मे वही काम करती है जो आग मे घी करता है। ऐसी परिस्थिति मे शारीरिक, मानसिक, वाचिक, वौद्धिक एव आत्मीय शक्तियो का कितना ह्रास होता है! कितनी विपन्नता आती है! कितने कर्मवन्धन होते हैं! दुरध्यवसायो के परिणामस्वरूप समग्र जीवनीय शक्ति ह्रासोन्मुख हो जाती है। इन सभी वृत्तियो के वीच रहने वाला चैतन्य देव अनेक जन्मो मे सद्-अनुष्ठानो से प्राप्त आत्म-शुद्धि सचित एव पुण्य प्रवाह को विनष्ट कर 'धूरमोची कि धूरमोची' की कहावत को चरितार्थ करता है।

इस दुर्दान्त शत्रु को पराजित करने के लिए उपर्युक्त प्रकार का

वर्तन-व्यवहार काम नही आता। इसको पराजित करने के लिए आवश्यक है कि चैतन्य देव जाग्रत होकर उसकी पराधीनता से ऊपर उठे एव समीक्षण दृष्टि का प्रकाश इस पर डाले। तभी यह दुर्दान्त मान रूपी शत्रु पलायन कर सकता है, जैसे गहनतम अधकार, प्रकाश के आने पर विलुप्त हो जाता है। समीक्षण दृष्टि के तीव्र प्रकाशोदय होने पर मान सम्बन्धी वृत्तियाँ एव इसके सहयोगी क्रोध से सम्बद्ध वृत्तिया, जो अधकार के सदृश है, समीक्षण दृष्टि की उद्भासमान किरणो से स्वत ही अपने आपको छिपाने लगेगी। इस तथ्य को एक रूपक द्वारा सरलता से समझा जा सकता है।

अधकार किसी विशिष्ट पुरुष के सामने जाकर शिकायत करता है—महानुभाव! मैं बडा ही दु खी हू। मेरे दु ख का कोई पार नही है, मुझ पर दया करे। आप जैसे विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुष मेरे प्रतिपक्षी शत्रु से मेरा पिड छुडाये एव दु ख को मिटाये। आप ऐसा करेंगे तो मुझ पर बहुत बडा उपकार होगा। मै कभी आपके अहसान को नही भूलूगा। आशा है, आप तटस्थ भाव से मेरा न्याय करेगे।

विशिष्ट पुरुष ने अधकार से कहा—तुम तो बहुत बलवान् हो, शक्ति-सम्पन्न हो, समग्र ससार को व्याप्त करके रहे हुए हो, तुम्हारी जडे बहुत ही गहरी है, मजबूत है। तुम्हारा प्रभाव इतना व्यापक है कि तुम मनुष्यो एव अन्य समग्र प्राणी वर्ग के रास्ते ही अवरुद्ध कर देते हो। तुम्हारा सरीखा शक्तिशाली तत्त्व इस विश्व मे अन्यत्र दृष्टिगत नही होता, तुम्ही एक ऐसे छायादार वृक्ष हो कि तुम्हारी छाया मे ही चोर चोरी करने मे सफलता पाते है, दुराचारी व्यभिचार मे प्रवृत्त होते हैं एव निशाचर जन्तु अपना भोज्य प्राप्त करते है। जुआरी एव दुर्व्यसनी अपने-अपने कार्य मे कामयाब बनते है। इसी प्रकार के अन्य प्राणी रात्रि के राजा तुम्हारे आने पर बडी खुशी मनाते हैं। किंवहुना, इस प्रकार के जितने भी प्राणी हैं, वे तुम्हारी राह देखते है, तुम्हारे आने पर प्रसन्नता अनुभव करते है। फिर तुम्हे डरने की क्या आवश्यकता है? तुम तो स्वय ही इतने विकराल हो कि जिससे उपर्युक्त अनुचर प्राणियो के अतिरिक्त जितने प्राणी है, वे सव तुम्हारे आने पर सहम जाते है, दरवाजे वद कर अन्दर की साकल लगा आख वद कर लेते है। अपना सारा कार्य-व्यापार वद कर लेते है ऐसी परिस्थिति मे तुमको इस ससार मे कौन दु ख देने वाला है? तुम्हे कही भ्रान्ति तो नही हो रही है, जिसमे तुम दु खित होकर मेरे समक्ष फरियाद कर रहे हो?

तव अन्धकार ने कहा—भगवन्! मुझे भ्रान्ति नही है और न निष्कारण पीडित होकर मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ। आपने मेरे विषय मे जो कुछ भी कहा वह सर्वथा सत्य है। पर मुझे दु खी करने वाले जगत् के प्राणियो मे से

कोई नही । मुझे पीडित करने वाला, प्रताडना देने वाला यदि कोई शत्रु है तो वह सूर्य का प्रकाश है । सूर्य तो दूर रहता है किन्तु उसका प्रकाश इतना भयकर है कि मुझे अनादिकाल से सताता आ रहा है । अब तक जैसे-तैसे सहन करता रहा, परन्तु अब सहन-शक्ति का बाध टूट गया है । किकर्तव्य विमूढ होकर आपके श्री चरणो मे निवेदन कर रहा हूँ । मेरे निवेदन पर ध्यान देकर मेरा सकट टाले यही विनम्र प्रार्थना है । आपके सिवाय मेरा कोई अन्य सहारा नही ।

उस विशिष्ट पुरुष ने कहा—चिन्ता मत करो, मै इन्साफ दूँगा । पर निर्णय देने के पूर्व मुझे उभय पक्ष की बात सुननी पडेगी । तुम्हारी बात मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ । तदनन्तर उसने प्रकाश को बुलाया और उससे कहा—भाई, बेचारे अधकार को कष्ट क्यो देता है ? वह बडा दुखी है, तुम्हारे कष्ट से ऊब गया है । पीडित होकर मेरे पास आया, उसने तुम्हारे विषय मे बहुत कुछ कहा एव अपना सकट टालने के लिए कहा है । मैंने कोई निर्णय तो नही किया, पर उसे आश्वासन दिया है कि तुम्हारी बात सुन करके ही निर्णय दे सकूगा वह सन्तुष्ट होकर चला गया । अब तुम बताओ कि निरपराध अधकार को क्यो कष्ट देते हो ? इससे तुम्हे किस अर्थ की उपलब्धि होती है ?

प्रकाश ने कहा—भगवन् ! मै तो अधकार को जानता ही नही, न मुझ उसकी पहचान है । मेरा उससे मिलन ही कभी नही हुआ है । जब मेरा मिलन ही नही हुआ, पहचान ही नही है तो कष्ट देने का कैसे प्रसग आ सकता है ? उसने मेरे सम्बन्ध मे क्यो और क्या कहा यह मेरी समझ मे नही आता है । अत मै क्या उत्तर दूँ ? हा, एक निवेदन अवश्यमेव है कि उसको मैं एक बार देख लू तो पहचान हो जायेगी तथा उसी समय, आपके समक्ष ही मै पूछ लू कि मैंने उसे क्या कष्ट दिया है । इससे आपको निर्णय देने मे अधिक सुविधा रहेगी ।

विशिष्ट पुरुष ने कहा—तुम्हारा यह निवेदन योग्य है, ऐसा ही होना चाहिए । तुम बैठो, मै उसे बुलाता हूँ ।

विशिष्ट पुरुष ने अधकार को बुलाने के लिए सूचना करवायी कि तुमने जो शिकायत की उस विषय मे मैं निर्णय देना चाहता हूँ । तुम जल्दी आओ । प्रकाश यहां उपस्थित है । वह कहता है कि मैने उसे क्या व्यथा-वेदना दी, उसका स्पष्टीकरण मेरे समक्ष हो जाय । वस्तुत मैंने कष्ट दिया हो तो मै क्षमा याचना के लिए तैयार हूँ, जो भी दण्ड मिले उसे भी सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ । प्रकाश कह रहा है - मैं अधकार को जानता ही नही । अतएव आप अति शीघ्र आइए जिससे कि सत्य का निर्णय हो जाय और आपका दुख समाप्त हो जाय ।

इस प्रकार विशिष्ट पुरुष के अभिप्राय को श्रवण कर अधकार ने कहा— मैं उसके रहते आ नही सकता।

इस सूत्र को पाकर विशिष्ट पुरुष ने पुन· पुन आने का आग्रह किया पर उसका एक ही प्रत्युत्तर था कि मेरा प्रकाश के सामने आना तो दूर रहा, मैं उसको देख ही नही सकता, तो फिर आपके समक्ष मिलना तो असम्भव ही है।

इतना उत्तर आने पर विशिष्ट पुरुष ने यह निश्चय कर लिया कि दु ख की बात सर्वथा निराधार है। यदि उसका मिलन हुआ होता तो इस समय भी वह अवश्य आता। परन्तु वह कह रहा है कि साक्षात् मिलन त्रिकाल मे भी सभव नही है। तो फिर दु ख देने का तो प्रसग ही नही आता।

यही अवस्था समीक्षण दृष्टि की, मान के साथी एव उसके परिवार की है।

समीक्षण दृष्टि रूप समता-प्रकाश के उपस्थित होने पर अन्धकार के तुल्य मान एव उसके सहयोगी टिक नही सकते। समीक्षण दृष्टि के साथ सत्पुरुषार्थ करने एव मान के विपरीत स्वरूप विनम्र भाव को स्थायी रूप से अभिव्यक्त करने पर उसकी सत्ता ही निष्प्राण-सी हो जाती है। अतएव दुर्दान्त शत्रु को पराजित करने का सफल प्रयोग समीक्षण दृष्टिपूर्वक सत्-पुरुषार्थ करना ही है।

मान का विष-वृक्ष

विष-वृक्ष अनेक प्रकार के होते है, यथा—अफीम, आक, धतूरा आदि। ये विष-वृक्ष तो सहज ही अभिव्यक्ति मे आ जाते है किन्तु कई ऐसे विष-वृक्ष होते है कि जिनका ऊपरी हिस्सा तो मनोहर और ललित लगता है किन्तु परिणाम उनका प्रतिकूल होता है। ऐसे विष-वृक्ष की तुलना मान से की जा सकती है। मान रूपी कर्म-स्कधो के उदय होने पर व्यक्ति को कुछ अच्छापन महसूस होता है। वह सोचता है कि मैं अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा अच्छा हूँ, उन्नत हूँ, मेरे सदृश कोई सुष्ठु शरीर वाला नही है। विद्वत्ता मे मेरे समक्ष कोई टिक नही सकता। तप मे कोई मेरी बराबरी नही कर सकता, मेरी सूझबूझ के तुल्य अन्य किसी की सूझ-बूझ नही है इत्यादि अनेक विषयो मे उस व्यक्ति की अभिमानवृत्ति एकागी बन जाती है। दूसरे की तरफ उसकी दृष्टि पहुँच ही नही पाती। अपने आपके भीतर ही वह उत्कर्ष देखता है। जिन विशिष्टताओ को लेकर वह अन्य के मुकाबले मे कुछ भी नही, उनके विषय मे भी वह अपने को दूसरो से विशिष्ट समझता है। अभिमान रूपी विष के परिणामस्वरूप अन्य को यथार्थ रूप मे देख

नही पाता। मध्यस्थभाव रख स्व-पर की तुलना करने मे समर्थ नही रहता। वह विपमभाव के विप रस का पान करने मे निमग्न रहता है।

सम-रस को समुत्पन्न करने वाली ग्रन्थियो का सकोच, सिकुडाव होता है, जिससे मम-रम की न्यूनता होने लगती है और अभिमान रूपी विषम-भाव के विपरस का प्रावल्य छाने लगता है। इससे रक्त मे कुछ गाढापन आने लगता है, कोशिकाओ मे रक्तसचरण का कार्य कम होने की स्थिति उपस्थित होने से कई कोशिकाये अवरुद्ध हो जाती हैं। यथास्थान रक्त का सचरण सम्यक्तया नही हो पाने से उन अवयवो, कोशिकाओ मे अन्य घातक तत्त्व पनपने लगते हैं। शनै-शनै उनकी जड जम जाती है। तव उनका एकदम आक्रमण होता है। प्रतीकार की शक्ति क्षीण हो जाने से समग्र शरीर रोगमय वन जाता है। यह घातक परिणाम पूर्व मे ज्ञात नही हो पाता, किन्तु आगे चलकर इस अभिमान रूपी विष-वृक्ष के विपफलो का भयकर दुष्परिणाम सामने आता है।

अभिमानी का अनादर एव दुर्गति

अभिमानी व्यक्ति अभिमान के वशीभूत होकर अभिमान का मपोपण करता हुआ वाणी का प्रयोग करता है। फलस्वरूप अन्य व्यक्तियो के मन मे हीन भावो का प्रादुर्भाव होता है। साथ ही अभिमान करने वाले पुरुष के प्रति जो सद्भावनाए होती हैं, वह भी नही रह पाती। वह सोचने लगते हैं कि यह व्यक्ति मानवजीवन के अनुरूप मानवता भी नही रखता है। ऐसे व्यक्ति से वार्तालाप करना सर्वथा अयोग्य है, क्योकि ऐमा पुरुष अभिमान के मपोपक पदार्थो का ही प्रयोक्ता वनेगा जिनमे सत्य का अभाव सा रहेगा। यदि हो तो वह भी धूमिल वन जायेगा। अतएव इससे अधिक न वोलना ही लाभप्रद एव श्रेष्ठ है। ऐसा मोचकर अभिमानी व्यक्ति का वह भी अनादर करने मे तत्पर वन जाता है। कभी कोई अन्य व्यक्ति वस्तुस्वरूप का कथन करता है। अभिमानी व्यक्ति उस कथन को श्रवण करना कम पसद करता है या पसद ही नही करता। वह उमी कथन को मुख्यतया प्रदान करता है जिसमे उसके अभिमान का पोपण हो। वह वस्तुस्वरूप के कथनकर्ता के वचनो को महत्त्व नही देता, वल्कि उसका तिरस्कार करने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से समझदार पुरुष उसके सामने सत्य कथन नही करेगा। अभिमानी पुरुष वस्तुस्वरूप के अभाव मे अज्ञानता का मुख्य रूप से पोषण करने लगता है। वह विवेकी पुरुषो की नजरो से गिर जाता है। अभिमानी व्यक्ति के नेत्रो से भी अभिमान के भाव अभिव्यक्त होने लगते हैं। नेत्रो के विज्ञान को जानने वाले पुरुष उस व्यक्ति के नेत्रो से उसकी वृत्ति को जान लेते हैं। उस अभिमान की वृत्ति को जानकर उसके प्रति आदर की भावना नही रखते। अभिमानी पुरुष अभिमान रूपी मिष्ट जहर के कारण विनयधर्म को विनष्ट सा कर देता है। परिणामस्वरूप उसमे नम्रता का गुण अभिव्यक्त नही

होता । इस गुण के अभाव मे वह गुणी व्यक्तियो का विनय नही करेगा, जिससे जन-जन की दृष्टि मे गिरा हुआ ज्ञात होगा। नम्रता गुणो के परिणामस्वरूप उपलब्ध होती है । अभिमानयुक्त वृत्ति से उसकी उपलब्धि भी रुक जायेगी । यह भी उसके लिए अपूरणीय क्षति होगी ।

अभिमानी व्यक्ति से न तो सही तरह का व्यापार ही होगा और न वह योग्य 'सर्विस' ही कर पायेगा । अन्य आर्थिक क्षेत्रो मे भी प्राय पिछड जायेगा । आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त व्यक्ति दुनिया का आदरपात्र नही बन सकता । ऐसा पुरुष इस वृत्ति के रहते हुए कभी भी उन्नत पद पर नही पहुँच सकेगा । समग्र मान की अवस्था तो दूर रही, पर यत्किचत् मान जो साधारण जनमानस के दृष्टिगोचर नही होता, वह भी आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चतर स्थिति मे पहुँचने मे रुकावट पैदा करता है, जिससे वह कितनी भी कठोरतम साधना क्यो न करले, पर आध्यात्मिक दृष्टि के सर्वोच्च स्थान का वरण नही कर पाता । बाहुबलीजी के मन मे मानाश विद्यमान रह जाने के परिणामस्वरूप, अरण्य मे अत्यन्त तीव्र तपश्चरण करने पर भी वे केवलज्ञान की दशा से अछूते रहे । मीठे विष की मात्रा कितनी भी स्वल्प क्यो न हो, किसी न किसी रूप मे उसका प्रभाव पडता ही है ।

जब अभिमानी व्यक्ति अभिमान के नशे मे झूमता हो, उस वक्त उसके नीचगोत्र कर्म का बन्ध होता है और उस बध के अनुरूप अन्य वृत्तियाँ घृणा, द्वेषादि के रूप मे उभरने लगती है । उसी समय मे कदाचित् आगामी भव का आयुष्यबन्ध हो जाय तो वह दुर्गति का पथिक बन जाता है । दुर्योधन इस तथ्य का उदाहरण है ।

मान-समीक्षण

मान का समीक्षण उसी सूक्ष्म प्रज्ञा से हो सकता है जो प्रज्ञा इतनी पैनी, इतनी तीक्ष्ण बन जाय कि वह उदयगत मान के परिणाम को तथा सत्ता-गत कर्मस्कधो को भी अवलोकित कर सके । जब उदयगत मान के परिणाम को अवलोकन करने की पैनी बुद्धि तैयार होगी, तब उस पैनी बुद्धि के साथ समता का सबल विशेप कार्यकर होगा । समतामूलक पैनी बुद्धि से किसी भी वस्तु को देखना समीक्षण कहलाता है । यह एक ऐसी तटस्थ दृष्टि है कि जिससे जिस किसी वस्तु के स्वरूप को देखने का अवसर प्राप्त हो उस समय यह समीक्षण दृष्टि किसी भी दीवार मे अटके नही, किन्तु राग-द्वेप की सशक्त दीवारो के मध्य मे से अछूती गुजरती हुई भीतर मे प्रवेश कर जाए । कार्य रूप उदयगत मान का समीक्षण करती हुई वह प्रज्ञा कारण रूप मान के कर्मस्कधो को सत्तागत रूप मे भी अवलोकित कर पायेगी । पर वह वही पर नही अटकेगी । वह उन स्कधो

की कारणभूत चित्त वृत्तियों को भी जान पायेगी। हाँ, उन तक पहुँचने के लिए इस दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण होना अत्यावश्यक है। उस तीक्ष्णता के उपलब्ध होने पर मान से सबंधित समग्र परिवार का वह समीक्षण दृष्टि यथावत् अवलोकन करने लगेगी। उनका समग्र परिवार अवलोकित होने पर उनके प्रति जो राग या द्वेष रूप आकर्षण था, लगाव था वह दूर हो जायेगा, टूट जायेगा। सत्कारात्मक आकर्षण के टूटने से मान अत्यन्त हेय रूप मे साधक को ज्ञात होने लगेगा और उसका सपरित्याग सहज बन जायेगा। जब तक इस प्रकार की प्रक्रिया नही बनेगी तब तक मान की निवृत्ति नही होगी, यह विषवृक्ष किसी न किसी रूप मे आत्मा को सत्रास उत्पन्न करता ही रहेगा। अतएव साधक को चाहिए कि राग-द्वेष रूपी दोनो तटो मे अपनी बुद्धि को विलग करले एव समीक्षण दृष्टि के रूप मे परिणत कर दे। तभी मान सबंधित समग्र क्षतियो से बचाव हो सकेगा। नव जीवन के अन्त स्रोत तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त बन जायेगा। अतएव सर्वप्रथम मान-समीक्षण मे समीक्षणदृष्टि का प्रयोग विधिपूर्वक किया गया तो इस विषयक सफलता—श्री साधक के चरण चूमने लगेगी। पर इस समीक्षण को सफल बनाने के लिए सबसे पहले मान सहिष्णुता का प्रयोग अति आवश्यक होगा।

वैयक्तिक सहिष्णुता

पुरुष (चैतन्य देव) पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से सप्राप्त सुदर्शन शारीरिक पिण्ड का सदा अवलोकन कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। उसको सपुष्ट बनाने के लिए विविध प्रकार के पोषक तत्त्वों का सेवन करता है। साथ ही अधिक सुष्ठुता प्राप्त करने के लिए बाह्य वस्तुओ का भी उपयोग करता है। आकर्षक वेषभूषा एव रहन-सहन सबधी ललित मनोहर, मनमोहक परिवेश सग्रहीत करने मे सलग्न रहता है। वह सोचता है कि इससे मेरा व्यक्तित्व निखरे। मैं समाज मे सर्वश्रेष्ठ होऊँ। मेरी आज्ञानुसार परिवार वर्तन करे। मुझे सर्वाधिक आदर-सत्कार-सम्मान प्रदान करे। इस भावना से अपने व्यक्तित्व को बढाने की कोशिश करता है पर वह यह नही सोच पाता कि व्यक्तित्व को निखारने के ये सभी सयोग समर्थ साधनभूत नही है। व्यक्तित्व को निखारने के लिए मुझे वास्तविक हेतुओ को जानना एव सविज्ञानपूर्वक आचरण मे लाना है। यह चिन्तन तभी बन सकता है जब कि वह व्यक्तिसबधी मानसहिष्णु बने। व्यक्तिसबधी मान सहिष्णुता का कार्य-कारण के रूप मे समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करे।

इस विषय मे समीक्षण दृष्टि जब सक्रिय होगी तब चैतन्य देव के सोचने, समझने के आयाम बदल जायेंगे। वह बाह्य पदार्थों को व्यक्तित्व को निखारने का साधन न मान कर भीतरी साधनो को प्रमुखता देगा। वह यह अवलोकित

करेगा कि यह शरीरपिण्ड ही व्यक्तित्व का स्वरूप नही है । यह तो प्रत्येक आत्मा को स्वकर्मानुसार समुपलब्ध होता है। किन्तु प्रत्येक आत्मा इस तथ्य से पूरी अवगत नही हो पाती । जब चैतन्य देव समीक्षण दृष्टि से समावलोकित करने लगेगा तब उसको व्यक्तित्व के निखार का सही स्वरूप विदित हो पायेगा। चैतन्य देव यह भलीभाँति जान पायेगा कि शरीरपिण्ड आन्तरिक वृत्तियो का परिणाम है । जिस प्रकार की पूर्व मे वृत्तियाँ रही उन्ही के अनुरूप कर्मस्कधो का सचय हुआ । उन्ही कर्मस्कधो के उदयगत परिणाम शरीरादि है । अतएव शरीर की निर्मिति शरीर के अधीन नही, अपितु शरीर की सूक्ष्म वृत्तियो पर आधारित है और वे वृत्तिया भी स्वतत्र नही, चैतन्य देव की अधीनता मे रहने वाली है । चैतन्य देव जब तक स्थूल दृष्टि पर लगाव वाली बुद्धि से काम लेता है तब तक समबुद्धि वाला नही बनता । अतएव जो जिसका कारण नही है उसको कारण मान बैठता है । जो जिसका स्वरूप नही है उसे उसका स्वरूप मान लेता है । जब उसकी बुद्धि मे समरसता जागृत होगी तब वह समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न होने लगेगा और उसी सम्पन्नता से वह वास्तविक व्यक्तित्व निखार के कारणो का सविज्ञाता बन पायेगा । उस जानकारी मे व्यक्तित्व का मूलाधार जीव है । वह चैतन्य देव व्यक्तित्व को परिष्कृत करने के लिए अपनी वृत्तियो मे सहिष्णुता रूप वृत्ति का प्रादुर्भाव करेगा । और यह देखना कि मैं जिनके ऊपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता हूँ वह प्रभाव शारीरिक साज-सज्जा से नही होगा किंतु समरसता पूर्वक उन व्यक्तियो की सुख-सुविधाओ का ध्यान रखने पर होगा । मै अपने लिए जिन सुख-साधनो की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ, उसी प्रकार वे भी अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए अनिवार्य आवश्यक वस्तुओ की चाह रखते है । अतएव मेरा कर्तव्य है कि उन अनिवार्य आवश्यक साधनो की पूर्ति हेतु जो साधन-सामग्री है उसके सविभाग का मैं ख्याल रखू । मैं लघु जनो से प्यार करू, गुरु-वृद्धजनो के चरणो मे विनम्र होकर रहूँ । किसी भी सदस्य की सेवा मे जरा भी प्रमाद न करू । वे मेरी सेवा करे, तब मै करू, ऐसी भावना मेरे मन-मस्तिष्क मे लेशमात्र भी न उभर पाये । किसी से कदाचित् कोई त्रुटि हो जाय तो उस त्रुटि का परिमार्जन करने के लिए मधुर स्वर के साथ सुझाव दू, निवेदन करू, सभो की आवश्यकताओ की सपूर्ति मे योगदान देता रहूँ । इस प्रकार की आन्तरिक वृत्तिया मन-वचन-काया के रूप मे परिणत होने पर भी किसी पर अहसान न जतलाऊँ । यह भी विचार न आने दू, कि मैं ऐसा कार्य करने वाला हूँ । अपने स्वार्थ को गौण कर अन्य के हित का कार्य कर रहा हूँ । प्रशसा या ख्याति की लालसा-आकाक्षा न रखू । कोई कितनी भी मेरी प्रशसा करे उससे जरा भी अह को जागृत न होने दू, हृदय मे भी उसे न पनपने दू । मेरे समक्ष अनेक व्यक्ति आएँ और कहे कि हमने यह कार्य किया, वह किया आदि और ऐसा कथन करते हुए स्वकीय अह को प्रदर्शित करे । उस समय भी मन मे वस्तुस्वरूप का ज्ञान रखते हुए उन अभिमानियो का तिरस्कार न कर सहिष्णुता का अवलम्बन लू । ऐसे प्रसगो का न समर्थन हो, न उनके प्रति घृणा हो न विद्वेष ही

जगे। इस प्रकार की सहिष्णुता जीवन के कण-कण मे व्याप्त हो जाय और साथ ही अन्य धार्मिक सद्गुणो का भी जीवन मे प्रवेश हो। यथाशक्ति कथनी-करनी मे एकरूपता स्थापित हो जाय। इन्ही गुणो से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है।

शरीर पहले रूपवान हो या विरूप हो, वर्ण कृष्ण हो या गौर, वस्त्र सादे-मोटे हो या भडकीले, सम्मान हो या तिरस्कार, सभी अवस्थाओ मे समभावना की अवस्था अभिव्यक्त होने लगे। सत्कार-सम्मान मे अभिमान की झलक तो दूर रही, भावो मे भी अभिमानाकुर स्फुटित हो पाए, तिरस्कार से हीनभावना भी न पनपने पाए। तभी व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व निखर सकता है। ऐसा व्यक्तित्व निखरने पर भी अहकार से दूर रहना मान-सहिष्णुता का सूचक बन सकता है। इस प्रकार की वृत्तियाँ ही चैतन्य देव को व्यक्ति-साहिष्णुता की सज्ञा मे खडा कर सकती है।

इस प्रकार का व्यक्तित्व उसी पुरुष मे पल्लवित-पुष्पित होता है जिसकी प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि से सम्पन्न हो गयी हो। अतएव जिस पुरुष को मान-सहिष्णु होने रूप व्यक्तित्व का निर्माण करना हो उसे समीक्षणदृष्टि की साधना अवश्यमेव करनी चाहिए, जिससे मान मे सवर्धित तनाव आदि अवस्थाओ का प्रादुर्भाव न हो पाये।

पारिवारिक मानसहिष्णुता

मानसहिष्णुता गुण से सम्पन्न पुरुष का पारिवारिक सदस्य समादर करे अथवा न करे, उसकी आज्ञा की पालना करे या नही करे, वह इसकी चिन्ता नही करता। ऐसी अवस्थाओ मे सामान्य जन हर्षविषाद की तरगो मे वह जाता है। अनादर एव आज्ञोल्लघन की स्थिति मे उसका अहकार स्वाभाविक रूप से फुफकार मार सकता है और वह कह सकता है कि मैं तुम लोगो का इतना हित करता हूँ, समग्र परिवार का भरण-पोषण, सरक्षण करता हूँ, तुम्हारे लिए समग्र जीवन समर्पित करके चल रहा हूँ। मुझे आदर-सत्कार देना तो दूर रहा किन्तु तुम, सबके हित की जो आज्ञा देता हूँ, उस पर भी ध्यान नही देते! मै अब तुम्हारा काम नही करूगा, इत्यादि अनेक बाते असहिष्णु व्यक्ति बोल सकता है। परन्तु जिसने समीक्षण दृष्टि से मान के परिणाम को जान व देख लिया है वह पुरुष मान को उद्वेलित, उत्तेजित करने सम्बन्धी विचारो को सहन कर सकता है। वह मानसहिष्णुता का आदर्श उपस्थित करता हुआ, परिजनो को इसी निरभिमान, विनीत व विनम्र वाणी मे कहेगा—साथियो! मुझे जिसमे परिवार के लिए हित लगा वैसा कहा। आप लोग भी सुज्ञ है, आप को मेरा कथन हितकर प्रतीत न होता हो तो कोई बात नही। सबके हित की अन्य कोई बात हो तो आप बतलाएँ। मैं भी उसे जीवन मे उतारने का प्रयास करूगा।

मुझे अपनी बात का कोई आग्रह नही है और न ही मुझे आज्ञा प्रदान करने का शोक है। केवल कर्तव्यपालना की दृष्टि से जिसमे मुझे हित लगा वह कहा, पर सम्भव है कि मेरे चिंतन का दोष मुझे ज्ञात न हो। दीपक अन्य को तो प्रकाशित करता है परन्तु उसके तल मे अन्धेरा रहता है। हो सकता है कि वह स्थिति मेरी भी हो। आप लोगो को कोई त्रुटि या भूल ज्ञात हो तो बतलाएँ। कोई सशोधन हो तो दे। मैं उसको सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हूँ। हम सबका उद्देश्य एक ही है कि परिवार मे सुख-शान्ति और अमन-चैन रहे। अपन सभी यथाशक्ति नैतिकता के साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर बने। इस प्रकार मान-सहिष्णु व्यक्ति का कथन सभी परिवार के सभ्यो को आकर्षित करने वाला बन सकता है। सम्भव है, कदाचित् तत्क्षण परिवार के सभ्यो को उसका कोई कथन समझ मे न आवे, वे उसके अनुरूप कार्य न करे, फिर भी मानसहिष्णु पुरुष यह नही सोचता है कि इन लोगो ने मेरी हितकारी बात भी नही मानी।' ये कुछ भी समझते नही है, अज्ञान से आवृत है। मैं इनकी बात को कैसे मान सकता हूँ। ऐसा न सोचते हुए वह यही कहेगा—'बहुत अच्छा, आप लोगो ने सोच समझ कर जो उपाय बतलाया है, उसे अपन सभी तन्मयतापूर्वक आचरण मे लाये।' ऐसा कहकर वह उसी प्रकार उनके सुझाव को क्रियान्विति देने लगता है। अपने सुझाये हुए मार्ग को अस्वीकृत करके अयोग्य सुझाव से कार्य करने पर जब कुछ ठोकर लगती है तब परिवार के वे सदस्यगण स्वय पश्चाताप करने लगते हैं और उसकी बात को याद करके कहते है कि—'हमारी भूल हुई। हमने आपकी अवज्ञा की। आपकी आज्ञा शिरोधार्य नही की। इसीलिए ठोकर खानी पडी। हम अल्पज्ञ हैं, अनुभव विहीन है, आपके समान दीर्घ दृष्टि से सोच नही पाये। अब हम अच्छी तरह से समझ पाये हैं कि आपका चिन्तन ही श्रेयस्कर था। अब आप ही इस बिगडे कार्य को सुधारने का प्रयत्न करे। हम आगे ऐसा नही करेगे। अपनी अज्ञता को हम समझ चुके हैं।' इस प्रकार उनका कथन श्रवण करके भी मानसहिष्णु पुरुष यह नही कहता कि—'अब मैं क्या करूँ, अपना किया आप भोगो।' इस प्रकार पूर्व की बात उठाकर उन्हे लज्जित न करता हुआ वह कहता है कि—'घबराये नही। यह भी एक प्रयोग था। प्रयोग से भी अपन सबको शिक्षण मिला। अत जो कुछ हुआ सो अच्छा ही हुआ। अब हमे ऐसा नही, ऐसा करना है।' ऐसा कहकर वह उनके पश्चाताप को भी शमित करता है और प्रकारान्तर से भी यह महसूस नही होने देता कि तुम लोग कुछ भी नही जानते हो।

ऐसा पुरुष ही अपने व्यक्तित्व को मानसहिष्णुता के रूप मे निखार सकता है। सुना गया है कि स्वतत्रता आन्दोलन के समय अखिल भारतवर्षीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस-सघ विराट् रूप मे चल रहा था। आन्दोलन के समय मे सभी वर्गो के गणमान्य व्यक्ति उसमे सम्मिलित थे। सभा मे अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये

जाते। गाँधीजी ने एक बार दीर्घदृष्टि से विचार कर एक प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का अभिप्राय अन्य प्रमुख सभासद् भी समझ नही पाये और उसे अस्वीकार करते हुए कहने लगे—बापू, ऐसा प्रस्ताव तो हम स्वीकार नही कर सकते। अस्वीकृति श्रवण कर गाँधीजी क्षुब्ध नही हुए। वे उनके अदूरदर्शिता पूर्ण प्रस्ताव को भी सहर्ष स्वीकारते हुए उसकी क्रियान्विति मे अग्रगण्य रहे। ऐसा प्रस्ताव क्यो पारित कर रहे हो, मैं इसमे न सम्मिलित होऊँगा, न सहयोग दूँगा, उन्होने न ऐसा कथन किया न खिन्नता ही प्रदर्शित की। परन्तु कधे से कधा मिलाते हुए चलने लगे। आगे जाकर ठोकर लगी काँग्रेस को। तब सभी गाँधीजी का स्मरण करने लगे। उनकी दीर्घदृष्टि की भूरि-भूरि प्रशसा होने लगी। सारा वातावरण प्रशसा के रूप मे बदल गया। उसमे भी गाँधीजी के मुँह से कोई अहकारपूर्ण शब्द नि सृत नही हुआ। साधारणतया ऐसा समादर प्राप्त होने पर अहभाव की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप से हो जाया करती है। किन्तु गाधीजी ने मानसहिष्णुता का आदर्श समुपस्थित किया। यदि सूक्ष्मता से अन्वेषण करे तो ज्ञात होगा कि इसके अन्तरग मे गाँधीजी ने प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट अहिसा, सत्य, अपरिग्रह और स्याद्वाद के स्वरूप को समझा था और इन सिद्धान्तो का यथास्थान उपयोग करने की कला भी समझी थी। इसका बीजवपन उनकी प्रथम विदेश यात्रा के समय जैन सन्त श्री बेचरजी स्वामी के द्वारा हुआ और युगद्रष्टा, युगपुरुष आचार्य श्री जवाहरलालजी म के प्रसग से उसे विशेष सबल मिला, ऐसा कुछ लग रहा है।

मान की अवमानना

समीचीन ज्ञान के प्राप्त होने पर विकास का द्वार खुलता है, परन्तु ज्ञान से सम्बन्धित मान की अवमानना होने पर ही यह सम्भव है। वह अवमानना तभी सभव है जब हम अपनी ज्ञानशक्ति से अधिक ज्ञानी का समादर करे। चिन्तन करे कि मेरे पास अभी स्वल्प ज्ञान है, मुझसे अधिक अनेक ज्ञानी इस धरा पर विद्यमान है। भूत काल मे अनेको ज्ञानी आप्त पुरुष हो गये है जिनका ज्ञान चरम सीमा को सस्पर्श करने वाला था। वर्तमान मे ऐसे विशिष्ट पुरुष विद्यमान है और भविष्य मे भी उनकी विद्यमानता रहेगी।

मैं भी अपने सत्पुरुषार्थ के माध्यम से ज्ञान-ज्योति को अधिकाधिक प्रकट करूँ। ऐसा तभी सभव है जब कि मैं अपने स्वल्प ज्ञान से सम्बन्धित मान को सत्कार न दूँ। जब ज्ञान से सम्बन्धित मान का प्रादुर्भाव होने लगे उस वक्त मैं उसकी उपेक्षा कर दूँ। उसकी उपेक्षा करना भी मान की अवमानना करना है। ऐसा नही करने पर ज्ञान सम्बन्धी विकास के द्वार बन्द होगे परिणामस्वरूप स्वल्प ज्ञान मे ही जीवनी शक्ति को समाप्त करने का अवसर प्राप्त हो जायेगा। विशाल और विराट् ज्ञान सम्पदा होगी। मैं उससे वचित रह जाऊँगा। उसकी

उपेक्षा से ज्ञानावरणीय कर्म प्रगाढ बनेगे जिससे विराट् व्यापक ज्ञानशक्ति की आसातना होगी । उस आसातना का परिणाम भी बहुत दूरगामी होगा । मेरा स्वल्प ज्ञान भी अज्ञान की श्रेणी मे परिणत हो जायेगा । फलत इन्द्रिय विषयो को प्रश्रय मिलेगा । उनको प्रश्रय मिलना जीवन को अधकारमय बनाना है । अनत जन्मो तक पुन सम्यग्ज्ञान-ज्योति की उपलब्धि दुष्कर बन जायेगी । अतएव मुझे ज्ञान का गर्व कर मान सम्बन्धी कूड़े-करकट को पनपने नही देना है । भले ही वर्तमान मे मेरा ज्ञान अन्य साथियो की अपेक्षा अधिक चढा-बढा हो, पर है वह स्वल्प ही । ज्ञान की भी चरम सीमा अमुक बिन्दु पर प्राप्त होती है । उस चरम सीमा को प्राप्त ज्ञान ही सर्वोपरि ज्ञान होगा । इस स्वल्प ज्ञान से प्रत्यक्ष मे भी मैं सूक्ष्म तत्त्व का अवलोकन नही कर पाता, किन्तु अनुमान का सहारा लेना पडता है । अनुमान भी कभी-कभी हेतु की कमजोरी से अस्पष्ट रह सकता हे । किन्तु उसके सहारे, अर्थात् निश्चयात्मक अनुमान से सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप को समझा जा सकता है । निश्चित अनुमान के जनक वे हेतु प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहे है । यथा :—मानव-मानव मे शारीरिक बनावट की समता होने पर भी बौद्धिक समानता नही पायी जाती, बल्कि बौद्धिक तरतमता युक्त उपलब्ध होती है । कई पुरुष समान साधनो से सम्पन्न होकर भी ज्ञान के क्षेत्र मे समान नही पाये जाते है । एक ही कक्षा के विद्यार्थी सम अध्ययन करने पर भी सम अको से उत्तीर्ण नही होते । उनकी उत्तीर्णता विविध रूपो मे दृष्टिगत होती है । एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी मे 'फर्स्ट पोजिशन' प्राप्त करता है । दूसरा विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी मे भी पर्याप्त अक नही ला पाता । थोडे-से नम्बरो से द्वितीय श्रेणी को प्राप्त होता है । तृतीय श्रेणी वालो मे भी विविध प्रकार की तर-तम योग्यता होती है । वैसे ही प्रथम व द्वितीय श्रेणी मे भी अनेक प्रकार की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न रूप मे उपलब्ध होती है । इससे आगे की ओर दृष्टिपात किया जाए तो अध्यापक वर्ग मे भी सम अको से उत्तीर्ण होने एव समान उपाधि प्राप्त होने पर भी कई अध्यापक स्मरणशक्ति मे तीव्र पाये जाते है तो कई स्मरणशक्ति मे हीन । उनमे कई अनुभूति से विशेष ज्ञान की उपलब्धि कर पाते हैं कई व्यावहारिक ज्ञान से प्राय अनभिज्ञ होते है तो कई व्यावहारिक ज्ञान मे प्रवीण होते है, पर अनुभूति के ज्ञान से वचित । इसी प्रकार अन्यान्य पुरुषो को भी देखा जा सकता है । कई आचरण के ज्ञान से सम्पन्न होते हुए भी उसको जीवन मे स्थान नही दे पाते । कई आचरण ज्ञान की दृष्टि से कमजोर होने पर भी आचरण मे बढे-चढे पाये जाते हैं । इस प्रकार जगत् मे ज्ञान सम्बन्धी विविध तरतमता दृष्टिगोचर होती है । तब सहज ही अनुमान होता है कि जहाँ ज्ञान मे तरतमता है वहाँ परिपूर्णता भी अवश्यभावी है, क्योंकि तारतम्य की विश्रान्ति, पराकाष्ठा या परिसमाप्ति परिपूर्णता मे ही पायी जाती है । यथा— जुगनू के प्रकाश की अपेक्षा चिनगारी का प्रकाश अधिक होता है, उसमे दीपक का तेज बढा-चढा होता है । दीपक की अपेक्षा न्यून परिधि वाला वल्ब भी

विशेष प्रकाश को लिये हुए रहता है। उसमे भी मरक्युरी का प्रकाश विस्तृत होता है। आकाश के अन्दर चमकने वाले तारो का प्रकाश स्वाभाविक होने के साथ-ही-साथ मरक्युरी के प्रकाश की अपेक्षा अधिक बढ़ा हुआ एवं विस्तृत होता है। पर उसकी भी रोशनी को परास्त करने वाला चन्द्र का प्रकाश भू-मण्डल तक प्रसरित हो जाता है। उससे भी अधिक सूर्य का प्रकाश स्वाभाविक तौर से प्रखर होता है। वर्तमान मे आम जनता की दृष्टि मे प्रकाश की परिपूर्णता सूर्य मे समाहित हुई दृष्टिगत होती है। इस परिपूर्णता मे प्रकाश सम्बन्धी तारतम्य पुष्ट हेतु है। वैसे ही ज्ञान की तरतमता रूप हेतु मे ज्ञान की परिपूर्णता निश्चय ही किसी विशिष्ट पुरुष मे उपलब्ध होगी। उस ज्ञान की परिपूर्णता अनतानत सूर्यो के प्रकाश से भी अधिक विस्तृत होगी क्योकि उसके साथ अज्ञान का सम्मिश्रण नही होगा। उसकी तुल्यता वाला दृष्टान्त चर्मचक्षु मे कोई उपलब्ध नही होता, अतएव सूर्य का दृष्टान्त चर्मचक्षु वालो को समझने मे सुगम होने के कारण दिया गया है। दृष्टान्त सभी एकदेशीय ही होते है। अतएव ज्ञान की ज्योति से सम्पन्न मानव ज्ञान के तारतम्य का समीक्षण करता हुआ परिपूर्णता की ओर देखता रहे, अग्रसर बनता रहे तो ज्ञान सम्बन्धी मान का अवमूल्यन सिद्ध हो जाता है। उसके लिए अधिक श्रम की आवश्यकता नही रहती। इस वृत्ति से चलने वाला पुरुष मान-समीक्षण सही तरीके से कर सकता है। समीक्षण दृष्टि के माध्यम से ही मान रूपी मधुर विष को समाप्त किया जा सकता है। समीक्षणदृष्टि को ज्ञान से सम्बन्धित कर अवश्यमेव एक-न-एक दिन अनुत्तर ज्ञान की परिपूर्णता से सम्पन्न बना जा सकता है। उसी सम्पन्नता को शास्त्रकारो ने 'केवलज्ञान' के रूप मे निर्दिष्ट किया है। उस ज्ञान की उपलब्धि करने वाले वीतराग देवो मे तीर्थंकर देव प्रमुख होने से उनका कथन जहाँ होता है वहाँ अन्य सभी केवलियो का समावेश सहज ही हो जाता है। अतएव मान रूपी शत्रु को जीवन से विसर्जन करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि तीर्थंकर देव की आसातना से बचे, अर्थात् तीर्थंकर देवो का सत्कार सम्मान करता हुआ उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करे। मान को हेय तत्त्वो मे अन्तर्गत जानता, मानता हुआ उसका सदा अवमूल्यन करता रहे, ताकि उसका अंकुर सम्वर्धित न हो पाए।

सद्विचार से मान-समीक्षण

विचार : आत्मा की परिणति विशेष।

विचारप्रवाह चेतनाशून्य जड़ तत्त्व का गुण नही है। यह चेतना का निर्मित गुण है। इसका प्रवाह जड़ तत्त्व से सम्बन्धित होकर प्रवाहित होता है। यथा—पानी प्रथम सरल पथ से बहता है। जिधर का भू-भाग पोला, नीचा व कमजोर होता है उधर वह शीघ्र प्रवाहित हो जाता है। आगे चलकर

वडी नदी का रूप धारण कर लेता है। वह नदी टेढी-मेढी-तिरछी बहती है। उस प्रवाह से कोई सरल-सीधी नदी का रूप नही बनता न ही दूरस्थित पदार्थो को उससे विशेष लाभ पहुँच पाता है। वह पानी कभी कठिन भू-भाग का भी भेदन करके रास्ता बना लेता है। किन्तु उस कठोर भू-भाग मे भी आपेक्षिक कठोरता हो तो ही वह मार्ग बनाता है, पर वह भी अव्यवस्थित अनेक रूपो मे। जिससे साधारण पुरुष यह जान नही पाता कि इसका उद्गम या स्रोत-पथ कहाँ है? यद्यपि पानी का स्वरूप मिट्टी-पत्थर से भिन्न है, और भिन्न स्वभाव मे ही वह टेढा-मेढा, अव्यवस्थित रूप से बहता है। इसी प्रकार विचारो का प्रवाह चैतन्य का स्वभाव है। पर वह चैतन्यभिन्न अचेतन–जड के साथ प्राय बहता है। जड एक रूप नही, विभिन्न और विवर्ण है।

चैतन्य गुण से शून्य होने के कारण जड तत्त्व पोचा है। स्वय की ज्ञानवान् कर्तृत्व शक्ति के अभाव मे अव्यवस्थित है। जिधर भी कोई उसको वहाना चाहे, बहा सकता है। विचारधारा प्राय सुगम स्थान व अधिक परिचय वाले पदार्थो मे अधिक बहती है।

रूपवान् जड तत्त्व चर्मचक्षु मे दृष्टिगत होने वाला तत्त्व है। अरूपी अवशेष चार इन्द्रियो और मन के माध्यम से ग्रहीत किया जाता है। इन्द्रियो के माध्यम से मन जिस जड तत्त्व के प्रति अधिक आकर्षित है, आसक्ति पूर्वक उसे ग्रहण करना चाहता है। इच्छानुकूल उसको ग्रहण नही कर पाने से विचार सकल्प-विकल्प का रूप ले लेते है। राग-द्वेष के खेमो मे काम करने लगते है। राग-द्वेषमय वृत्ति के साथ विचारो का प्रवाह जब प्रवहमान होने लगता है, तब विचार भी अव्यवस्थित आढे-टेढे, ऊँचे-नीचे प्रवाहयुक्त हो जाते है, जिससे विचार-प्रवाह का स्वरूप व्यवस्थित नही रह पाता।

आढे-टेढे विचारो मे राग-द्वेष की परिणति के कारण दोषो का समुपस्थित होना स्वाभाविक है। उन्ही विचारो की पकड से जब किसी एकागी विकारी तत्त्व को अभीष्ट मानकर प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है उस समय मान का अधकार उसकी विवेक-दृष्टि को आच्छादित कर देता है। किन्तु जब सद्विचार रूपी सूर्योदय के प्रकाश की किरणे प्रसरित होने की अवस्था मे पहुँचती है, उस समय मान का अधकार पलायन करने लगता है, समीक्षण दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। उसका उपयोग करने पर जिस वस्तु को अभीष्ट माना था वही वस्तु विकार युक्त दृष्टिगत होने लगती है। जैसे-जैसे सद्विचारो के साथ समीक्षण दृष्टि पूर्वक गहनता मे प्रवेश होता जाता है वैसे-वैसे विचारो मे घुले राग-द्वेष का स्वरूप, टेढा-मेढापन दृष्टिगत होता जाता है। जिससे वह राग-द्वेष की दीवारो को यथावत् देखता हुआ असद् विचारो के आढे-टेढे प्रवाह को हटाकर व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। अव्यवस्थित विचारो से जो

शक्ति क्षीण होती हुई जा रही है, उसका विज्ञान हो जाने से सद्‌विचारो का कलापूर्ण पद्धति मे व्यवस्थितीकरण करता हुआ उन्हे एकरूपता का स्वरूप प्रदान करता है, यथा – अस्त-व्यस्त तरीके से बहने वाले जलप्रवाह को विवेकशील निपुण इजीनियर बाध बनाकर सुनियोजित व व्यवस्थित बनाता है, जिससे जनहिताय विद्युत् सिचनादि कई कार्य सम्पन्न होने लगते है। उसी जलप्रवाह का सदुपयोग होने से जैसे जनसमुदाय अधिक लाभान्वित होता है वैसे ही विवेकशील चैतन्य देव सद्‌विचारो के नियोजीकरण से जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का सिंचन करता है। परिणामस्वरूप जीवन मे किसी भी निमित्त के कारण उत्पन्न हुआ मान का अकुर मुरझा कर विलय को प्राप्त हो जाता है।

मानविहीन जीवनचर्या से स्वय का जीवन तो सदगुणो से आलोकित होता ही है, साथ ही परिवार, समाज एव राष्ट्र के जीवन मे भी उसका प्रभाव होना स्वाभाविक है। ऐसे सद्‌विचारवान् पुरुष के सम्पर्क से अन्यो को भी जीवन मे उभरने वाली मान-वृत्तियो का अवमूल्यन करने मे काफी हद तक सफलता प्राप्त होती है। अतएव सद्‌विचारो से मान-समीक्षण करने की कला प्रत्येक पुरुष को सीखनी चाहिए। इसके लिए साधन समीक्षण ध्यानपद्धति है। उसका नियमित, बिना अन्तराल के, सत्कारपूर्वक अभ्यास आवश्यक है।

मान का अधापन

मान सम्बन्धी कर्म-वर्गणाओ के उदित होने पर उनका असर अध्यवसायो पर पड़ता है। अध्यवसाय विचारो के साथ समन्वित होकर मानसतत्र को घेर लेता है। मानसतत्र से सयुक्त रहने वाले जितने भी केन्द्र, उपकेन्द्र है, वे सभी प्रभावित होते है। उस समय अधापन-सा छा जाता है। इसे दूसरे शब्दो मे कहे तो दृष्टि मान के रग से रगीन बन जाती है। परिणामस्वरूप पुरुष प्रत्येक रूप को मान के रग से रगा देखने लगता है। अपने रूप से तुलना करने लगता है कि मै कैसा रूपवान् हूँ। मेरे रूप की समकक्षता मे किसी का रूप नही है, यह सब दृष्टिगत होने वाले रूपविहीन है, नाकुछ है, घृणित है। इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। इनके रूपो को देखने की अपेक्षा नही देखना ही अच्छा है। जिस प्रकार रात्रि का राजा उल्लू सूर्य की किरणो को भँवरे के काले पंखो के समान कृष्णवर्ण देखता है। अधकार उसको अच्छा प्रतीत होता है, क्योकि सूर्य के प्रकाश मे उसके नेत्रो की ज्योति काम नही करने से वह अधा सा रहता है। वह अधकार को पसद करता है। लगभग यही दशा मानान्ध पुरुष की बन जाया करती है।

सूर्य की अनुपस्थिति मे रात्रि के अधकार परिपूर्ण रहने से चोर-लुटेरे, व्यभिचारी आदि पनपने लगते है शिकारी पशु अपने शिकार की खोज मे सन

पडते है । मच्छर, खटमलादि क्षुद्र जन्तु भी अन्धकार मे आक्रमण करना प्रारम्भ कर देते है । इससे कई प्राणियो का विनाश, सम्पत्ति का अपहरण, सदाचार का विलोप, निरपराध प्राणियो का विघात और मच्छरादि के जहर से मलेरिया ज्वर आदि हो जाता है । उससे लीवर खराब हो जाता है, आन्तरिक यत्र मे अव्यवस्थितता आ जाती है, अनेक रोगो की उत्पत्ति होने लगती है, जो प्राणी वर्ग के लिए घातक सिद्ध होती है । वैसे ही मानाधकार मे भटकने वाला पुरुष जन-जीवन का घातक, सद्गुणो का अपहरणकर्ता, दुराचार का जनक तथा अन्य अनेक प्राणियो को सक्लेश पहुँचाने के साथ ही साथ प्रदूषण का सर्जन करने वाला है । उससे आबालवृद्ध मनुष्य ही नही, अन्य छोटे-मोटे सभी प्राणी भी सक्लेश पाते है । मानसिक रोगादि के शिकार बन अशान्ति का अनुभव करने लगते है । यथा —कपिला दासी के निमित्त से अभया महाराणी की जो स्थिति बनी वह सक्षिप्त मे इस प्रकार है--

पतिपरायणा, धर्मनिष्ठ सतीत्व को धारण करने वाली सेठानी मनोरमा सार्वजनिक उत्सव के प्रसग पर अपने पुत्रो के साथ रथ मे बैठ उत्सव देखने जा रही थी । महारानी का रथ उसके आगे ही चल रहा था । कपिला बैठी थी । सहसा उसकी दृष्टि कान्त, कमनीय, मनोहर मनोरमा के पुत्रो को देखकर उसी ओर आकर्षित हो गयी । चित्त एकाग्र बन गया । उत्सव का दृश्य विस्मृत हो गया ।

अभया महारानी ने पूछा – कपिले ! तुम्हारी दृष्टि वहाँ कैसे टिक गयी ! तब कपिला ने पूछा—यह रथ किसका है ? यह कौन सौभाग्यशालिनी नारी है ? ये पुत्र किसके है ? यह कैसी प्रसन्नता अनुभव कर रही है ? इत्यादि ।

महारानी ने कहा—अरी कपिले–तू कैसी विचित्र नारी है ! दुर्भावना से तेरी स्मृति विलुप्त हो गयी है । तू इतनी अनभिज्ञ बन गयी ! यह नारी राजा और प्रजा के बीच सामजस्य रखने वाले, समतापूत नगर श्रेष्ठी की है । पति-व्रता, धर्मपरायण है । इसी के ये पुत्र हैं । महारानी का कथन कपिला के लिए हास्य का कारण बन गया । ठहाका लगा हँसती हुई वह कहने लगी—वाह-वाह मेरी स्मृति तो विस्मृत हुई, पर आपकी स्मृति अयथार्थ–असत्य की पोषक है ।

अभया ने कहा–कैसे ?

कपिला मनोभावो को छिपाती हुई कहने लगी—रहने दीजिए, इस प्रकरण को समाप्त कीजिए ।

महारानी उसका हाथ पकडती हुई कहने लगी—समाप्त कैसे करूँ ? मेरी स्मृति अयथार्थ-असत्य की पोषक कैसे है ? अपनी बात सिद्ध कर ?

महारानी की उत्कण्ठा प्रबल देख उसने हास्यरस के साथ कहा—सत्य कटु हुआ करता है। उस कटुता को आप कैसे पचा पाएँगी? स्मृति को चोट पहुँचेगी, अहंकार तिलमिला उठेगा।

महारानी ने कहा—नहीं, तुझे बताना पड़ेगा।

तब कपिला ने कहा—आप सेठ का गौरवानुभूतिपूर्वक मुझे परिचय दे रही हो और उसकी पत्नी को पतिव्रता बता रही हो, वह सर्वथा असत्य–अयथार्थ है। उसका पति तो पुरुषत्वहीन है, हीजड़ा है। उसके पुत्र कैसे हो सकते हैं?

महारानी ने कहा—तू कैसे कह रही है कि वह पुरुषत्वहीन है। मैं मान नहीं सकती। तू भ्रमित है।

कपिला ने अपने अहं का पोषण करते हुए घटित वृत्तान्त बतलाया और कहा—उसने स्वयं ने ही अपने को पुरुषत्व हीन स्वीकार किया, मुझे छोड़ चला गया। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

महारानी ने मुस्कान के साथ कहा—कपिले! तू नारीकला में निपुण नहीं है। सेठ सदाचारी निरभिमान वृत्ति का सुघड़ पुरुष है। उसने सुघड़तापूर्वक तेरे जाल को विछिन्न किया है। अपने आपको तू त्रियाचरित्र में निपुण मान अभिमान करती है। उस निरभिमानी पुरुष ने तेरे अभिमान को चूर-चूर कर दिया।

इतना सुनते ही उसका अभिमान फुफकार मारने लगा। कहने लगी—यदि मैं त्रिया चरित्र से फैल हो गयी तो उसको परास्त करने वाला विश्व में कोई नहीं हो सकता है। महारानी तपाक से बोली—रहने दे। क्यों मान से चूर हो रही है।

महारानी षड्यत्र रच अन्य महोत्सव के प्रसग पर पौषध शाला मे ध्यानस्थ बैठे नगर सेठ सुदर्शन को अपने भवन मे बुलवा लेती है। त्रियाचरित्र का जाल फैलाती है। परन्तु सेठ सुदर्शन विनम्र, सरलता से उसे बडी माता कह पुकारता है। अनेकानेक युक्तियाँ रचने पर भी रानी को सफलता नही मिली। तब सेठ को सूली पर चढवाने की आज्ञा प्रसरित करवा दी। उससे छोटे से लेकर बडे तथा सभी को कितना दु ख, सताप, वेदना हुई होगी, इसका अनुभव अनुभूतिपूर्वक किया जा सकता है, कथन नही किया जा सकता।

मानाध व्यक्ति मान के अन्धकार मे किस प्रकार अन्यो को उद्वेलित करते है, इस उदाहरण से यह समझा जा सकता है। सेठ ने मानरहित नम्रता, सरलता से पच परमेष्ठी को नमस्कार किया। अपने को मानाधकार से अनुरजित नही होने दिया। परिणामस्वरूप सूली का सिहासन बना। अतएव मानाधकार के विनाश के लिए निरभिमान वृत्ति का समीक्षण दृष्टि के माध्यम से निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए।

सदाचार-मान का उपमर्दक

सदाचार एक ऐसी तीक्ष्ण छैनी है जो प्रतिपक्षी आचरण का समूल उन्मूलन कर देती है, अर्थात् बुरे आचरण को समूल नष्ट कर देती है। मानव-जीवन के उन्नयन के लिए यह एक निरवद्य अस्त्र है जिसे दूसरे शब्दो मे अशस्त्र भी कह सकते है। तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्रो से जो कार्य किया जाता है उससे कई गुणाधिक यह अशस्त्र कार्य करने मे समर्थ है। तीक्ष्ण शस्त्र शरीर एव स्थूल वस्त्रो का छेदन-भेदन करता है। किन्तु अशस्त्र दुर्गुणो को आर्द्र कर सशोधित कर डालता है। जिन तत्त्वो से सद्गुण, दुर्गुण की सज्ञा धारण करते हैं, उन्ही दुर्गुणो का परिमार्जन कर यह अशस्त्र स्वच्छ-निर्मल बना देता है। इस अपेक्षा से यह सद्गुणो का सरक्षक, स्थूल शरीरिकादि अवयवो का भी सपोषक है। बाह्य शस्त्रो से भौतिक ध्वस होता है। विध्वस्त तत्त्व अन्य जनो को दूषित करते है। शारीरिक एव मानसिक विविध प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न करते है। किन्तु यह अशस्त्र तीक्ष्ण शस्त्र से उत्पन्न व्याधियो को शान्त कर पवित्र, सुगधमय वायु-मण्डल जन-मानस मे तैयार करता है।

स्थूल शस्त्र भयावह एव बहु व्ययसाध्य होते है किन्तु यह सच्चरित्र रूप अशस्त्र आह्लादप्रद एव निर्भयता का प्रतीक है। स्थूल शस्त्र विष के तुल्य है। व्यक्ति, परिवार, समाज एव राष्ट्र के प्राणियो मे विभेद, द्वन्द्व, सघर्ष, विग्रह प्रतिरोध की भावना और वैरानुबधी वैर की सर्जना कर भवभव मे चैतन्य देव को रुलाने वाले है। किन्तु सदाचार रूपी अशस्त्र अमृत की उपमा से भी उपमित होने वाला नही है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एव विश्व मे व्याप्त विविध

भेदों का अभेद में, द्वन्द्वों को अद्वन्द्व के रूप में, संघर्ष को स्नेह में, विग्रह को मैत्री रूप में, प्रतिरोध को अनुरोध में और वैरानुबंध के स्थान पर निर्वैरता, निर्भयता और आत्मिक स्वरूप को विकसित करने वाला है। जन्म, जरा, मृत्यु आदि व्याधियों को समाप्त कर भवभ्रमण के जाल से विमुक्ति दिलाने वाला है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा पद का भाजन बनाने वाला है।

सदाचरण कल्पतरु से भी बढ़कर है। स्वपर-मनोवांछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त यही है कि वह वास्तविक हो, आत्म-प्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकड़े नहीं। कक्षाएँ बन सकती हैं, विभेद नहीं, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्यानुसार इसे अपनाया जा सकता है। अधिक मात्रा में जीवन में इसका जितना प्रवेश होगा उतना ही जीवन दुर्गुणों से हीन-सशुद्ध बनेगा। दुराचरण की अनेक विधाएँ हैं। उनमें कई असभ्य रूप में हैं तो कई सभ्यता के रूप में प्रचलित हैं। कई दृष्टि-पथ में आने वाली हैं तो कई सामान्य जन के दृष्टिपथ में नहीं आने वाली हैं। कई आन्तरिक गूढ़ता को लिए हुए होती हैं।

आन्तरिक गूढ़ता को लिए हुए चलने वाली दुराचरण की विधाएँ अधिक खतरनाक होती हैं। उनमें से एक मान सम्बन्धी विधा भी है। इस आन्तरिक मान सम्बन्धी विधा का समूलोच्छेद भावात्मक सदाचरण रूप अस्त्र की छैणी ही कर सकती है।

जब आन्तरिक मान की विधाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं तो उनके साथ पनपने वाले अन्य अशिष्टाचार भी समाप्त हो जाते हैं। अतएव चैतन्य देव को सदाचार रूप अस्त्र का आश्रय लेना चाहिए। यही अचूक, अमोघ, सूक्ष्म, सशक्ततर अस्त्र है आत्म-संरक्षण के लिए।

मान से विपन्नता

व्यापार एव विनिमय किया जा सकता है। किन्तु मानवीय जीवन का मूल्य नही आँका जा सकता। इसे अमूल्य निधि के रूप मे कहा एव स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी अमूल्य उपलब्धि चैतन्य देव को अति ही दुर्लभता से होती है। इस शरीर के अन्तरग की सरचना का अवलोकन देखते ही बनता है। शरीर से सम्बन्धित अन्तरग मे रहे हड्डी, रक्त—मासादि तत्त्वो का अवलोकन कर पाते है विशिष्ट चिकित्सक। परन्तु अति सूक्ष्म सवेदनशीलता को वे भी अपने औजारो से नही देख पाते। ऐलोपैथिक सिद्धान्तो के माध्यम से अनुमान से ही कुछ जाना जा सकता है। मस्तिष्क की अति सूक्ष्म सरचना एव तत्सबधी कई ऐसी ग्रन्थियाँ है जिनकी शोध अभी वैज्ञानिक नही कर पाये। उन ग्रथियो के कार्य और प्रणालियो का विधिवत् पूर्ण अनुमान भी नही कर पाये। मस्तिष्क की सरचना तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयो का तो कहना ही क्या ? यद्यपि सरचना का प्रधान उपादान भौतिक मैटर है किन्तु इस भौतिक उपादान को इस रूप मे सरचित करने वाला सर्जक विज्ञानवान् चेतना है। उसका तो कहना ही क्या ? अतएव समग्र विश्व की वस्तुओ के साथ उसकी तुलना करे तो इसकी समकक्षता मे कोई भी अमूल्य निधि उपलब्ध नही हो पायेगी। इस अमूल्य निधि रूप सम्पत्ति से सम्पन्न चैतन्य देव है, इसका क्या मूल्याकन किया जाए ? कहाँ इसका उपयोग करे ? किस रूप मे करे ? कितना करे ? जिससे इस अमूल्य सपत्ति का अवमूल्यन न हो पाए। चैतन्य देव यदि वस्तुस्थिति का यथार्थ विज्ञान नही रखने वाला होगा तो .. विपन्नता।

अस्वाभाविक पर्याय का सम्मान करने से स्वाभाविक पर्याय अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। जीवन मे स्वाभाविक तौर पर अनेक वृत्तियाँ अध्यवसायो का सबल पाकर विकासोन्मुख होती हुई आगे बढती हैं, उनसे सपुष्टि प्राप्त करती हुई पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है।

किन्तु मानवृत्ति के अधीन रहने वाले पुरुष का ध्यान मुख्यतया उसी तरफ आकर्षित रहता है। उसी तरफ वह अग्रसर बनता रहता है। उन वृत्तियो को ज्यो-ज्यो अध्यवसायो का सबल मिलने लगता हे त्यो-त्यो चैतन्य देव की अन्य वृत्तियाँ उपेक्षित बनती जाती है, गौण होती जाती है। इसमे विकास की प्रक्रिया रुक जाती है। उसमे रुकावट ही नही, मुर्झाहट भी आने लगती है। वे सिकुडने लगती है। अन्ततोगत्वा रोग ग्रस्त बन जाती है। तब जीवन की अमूल्यता एव तदनुरूप सम्पन्नता विपन्नता के रूप मे परिणत हो जाती है। परिणाम-स्वरूप जो अन्य स्वाभाविक कार्य निष्पन्न होने वाले होते है, उनमे भी अवरोध पैदा हो जाता है। मानवृत्ति की अगडाई उग्र-रूपता के साथ जीवन मे व्याप्त होने लगती है। उस अवस्था मे चैतन्य देव शरीर मे सबन्धित सम्पन्नता मे विपन्न [दरिद्र] बनता है। आत्मा अपने आपको मानाभिनिवेश की वृत्ति मे पवित्र गुणो से विपन्न बनाने लगती है।

अहंवृत्ति का समोपण होते रहने से वैभाविक गुण भेद की तरह पनपने लगते हैं। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियां कर्मावरण से आच्छादित होने के कारण उनमें विपन्नता आ जाती है। अतएव मान का परम्परा से इतना घातक असर होता है कि जिससे मानसिक, वाचिक और कायिक वृत्तियां दरिद्र बनती हुई पुरुष के समग्र जीवन को ही विपन्न बना देती है। मान को प्रश्रय प्रदाता व्यक्ति वाणी के माध्यम से अन्य को तिरस्कृत करने लगता है, जिससे उसके द्वारा अर्थ सबधी उपलब्धि होती हुई रुक जाती है। फलस्वरूप मानव को आर्थिक दृष्टि से भी विपन्नता आ घेरती है। रात और दिन मस्तिष्क मे चलने वाली मानवृत्ति के कारण मस्तिष्क की वृत्तियां भी दोषयुक्त बन जाती है। उस दोष का परिमार्जन यथार्थ तरीके से न होने के मानस तत्र जो नित नयी नूतन वृत्तियो का आविष्कार करने वाला है, उन आविष्कारो को कर नही पाता। इस प्रकार मान से दूरगामी परिणाम जीवन की विपन्नता के रूप मे परिणत हो जाते है। साधारण मनुष्यो का तो कहना ही क्या, चरम शरीरी विशिष्ट महात्मा भी अपनी चरम उपलब्धि पाने मे असमर्थ रहते है। यह अनुपलब्धि सर्वांतरण गुण की विपन्नता कही जा सकती है। बाहुबली स्वामी का उदाहरण हमारे समक्ष है।

मान एक पागलपन

के प्रयत्न भी विफल रहे। उसने आखिरी उत्तर मे कहा—'मै बिना युद्ध, सूई की अणी पर आवे उतनी भी भूमि देने को तैयार नही हूँ।' इसी पागलपन के कारण यह धरा अनेक अप्रतिम योद्धाओ के रक्त से रजित हुई, अनेक परिवारो की दुर्दशा हुई, अनेक सन्नारियो को वैधव्य का दु ख भोगना पडा। भारतीय भूमि की समृद्धता छिन्न-भिन्न हुई। सती द्रौपदी का भरी सभा मे चीर हरण करने का दु साहस भरा दृश्य उपस्थित हुआ। यह मान के पागलपन का ही परिणाम कहा जा सकता है। अतएव प्रत्येक पुरुष को चाहिए कि वह अपनी वृत्तियो का सचालन स्वय चैतन्य देव के नियत्रण मे करे। अपनी शक्तियो को मान के अधीन समर्पित न करे। यह तभी हो सकता है जब मान के पागलपन का समीक्षण दृष्टि से अवलोकन किया जाए। यही एक दृष्टि ऐसी है कि जो *वस्तु का यथावत् बोध कराती हुई चैतन्य देव की शक्तियो की सदुपयोग करवा* सकती है।

मान-प्रतिशोधात्मक आग

मानवीय जीवन अधिकाशत मानवृत्ति के अधीन बना रहता है। उसे अन्य बातो का विशेष ध्यान रहे या न रहे, पर मान की पुष्टि का अवश्य ख्याल रहता है। शिकार के उद्देश्य से भ्रमण करने वाली बिल्ली का मुख्य लक्ष्य शिकार ही रहता है। अन्य कार्य उसके गौण रूप मे रहते है। उसे जहा शिकार की आशा होती है वहाँ वह अपने शरीर को सकोच करके चुपचाप बैठ जाती है–शिकार को पकडने। मूषिक भद्रिक भाव से इधर-उधर ज्यो ही दौडने लगता है त्यो ही उसे झपट कर पकड लेती है और अपनी खुराक बना लेती है। वैसे ही यह मान रूपी बिल्ली मस्तिष्क मे चुपचाप बैठी रहती है। यत्किचित् भी अपमान कोई करता है तो वह उस अपमानकर्ता पर लपक-झपट्टा मारती है। उसे दबोच अपनी खुराक ग्रहण करना चाहती है। उसके अभाव मे प्रतिशोध की आग सुलगने लगती है। उस आग की चिनगारी स्वल्प निमित्त पाकर भी दानवता का रूप धारण कर लेती है। बडे-बडे योद्धा उस आग मे झुलसते रहते है। निरपराध प्राणी भी इसकी लपटो से बच नही पाते। यथा—पाण्डवो ने भवन बनवाया। विविध कलापूर्ण चित्र उसमे चित्रित करवाये। वह दर्शनीय स्थल-सा बन गया। आयोजन रखा गया, सभी को निमन्त्रित किया गया। भवन मे किसी प्रकार की कोई कमी किसी की जानकारी मे आये तो सुधारा जा सके। दुर्योधनादि कौरव भी पहुँचे। भवन का अवलोकन करते भीतरी भाग मे प्रवेश किया। रचना अनूठी, अद्भुत थी, फर्श मे पानी का भ्रम हो गया, सभाल कर चले। उस समय के दृश्य को देख, द्रौपदी के हँसी के फौहारे छूट पडे और सहसा मुँह से निकल गया—'अधे के बेटे अधे ही होते है।' शब्द क्या निकला मानो अग्नि मे घी उडेल दिया गया। घाव पर नमक डालने का काम बन गया। कौरवो के चित्त मे प्रतिशोध की अग्नि लगी और महाभारत छिड

गया। आधुनिक काल के, विश्व के दो महायुद्धों के पीछे भी चिन्तन करने पर यही कारण दृष्टिगत होगा। अतएव साधक को प्रतिशोध की ज्वाला से बचने के लिए सतत सावधान-जागरूक रहना चाहिए। पर यह तभी संभव है जब कि मान का स्वरूप समीक्षण दृष्टि से अवलोकित किया जाय। साधक को प्रतिशोधात्मक अग्नि उत्पन्न होने के प्रसंग पर चिन्तन करना चाहिए कि मेरी प्रतिशोधात्मक, विद्रूपात्मक मन की वृत्ति से क्या समस्या हल हो जायेगी? नहीं। क्या इसके लिए इसी प्रकार चिंतन, व्यवहार आवश्यक है? पूर्व में ऐसी वृत्तियों से कौन-कौन सी समस्याएँ हल हुईं, ऐसा नहीं लगता तो क्या रुकावट, उलझन पैदा हुई? हाँ, इससे समस्या सुलझती नहीं, जटिल अवश्य हो जाती है। रामायण के युद्ध की समस्या सुलझने के सन्निकट पहुँच गयी। मन्दोदरी ने वस्तुस्थिति का ज्ञान कराकर रावण को राम के पास भेजने की तैयारी कर ली। वह पलंग से उठा, किन्तु मान ने फुफकार मारी, वह द्वार से बाहर नहीं निकल सका और समस्या अधिक जटिल बन गयी। उसका कितना भयंकर परिणाम आया, वह सबको विदित ही है। अतएव इस प्रकार का समीक्षण प्रति समय साधक को करते रहना चाहिए और मानस-मन्त्र-समीक्षण ध्यान से सावधानी पूर्वक अवलोकन करता रहे तो इस दुःसाध्य प्रतिशोधात्मक ज्वाला का उपशान्त-प्रशान्त किया जा सकता है।

मान-साम्राज्य

इस भावना से वह समाज मे विशेष महत्त्व का स्थान बना नही पाता और न पारिवारिक जनो का कृपापात्र ही बन सकता है। यह तो दूर, धर्मपत्नी का भी प्रिय नही बन सकता। क्योकि इन सब कार्यों मे अर्थ की प्रधानता रहती है। उस अर्थ की उपार्जना स्वय के माने हुए मान को सुरक्षित रखते सभव नही। मानावस्था मे कार्यकुशलता हासिल कर नही सकता, विधि हाथ लग नही सकती और उस विधि के बिना अर्थ की साधना सध नही सकती है। अर्थाभाव मे सामाजिक प्रतिष्ठा, पारिवारिक जनो का स्नेह एव स्वय की पत्नी आदि का भी अनुराग प्राप्त नही कर सकता। अतएव मान का साम्राज्य कितना अहितकर, कितना व्यापक, विशाल है यह सहज ही समझा जा सकता है। समीक्षणदृष्टि धारण करने वाला साधक समभावपूर्वक इसका अवलोकन करता है। समान भाव से व्यक्ति, परिवार, समाज एव राष्ट्र की सेवा करता हुआ स्वय की गृहीत प्रतिज्ञाओ का अनुपालन करता है। शुभ-भाव से कर्तव्य की परिपालना करता हुआ ऊँची-नीची परिस्थितियो को समभाव से देखने लगता है। ऐसा साधक बिना अर्थ के ही सबका प्रीतिपात्र बन जाता है जो जीवन के लिए अति ही महत्त्वपूर्ण, अनूठी उपलब्धि कही जा सकती है। अतएव प्रत्येक साधक को मानसमीक्षण के लिए प्रतिदिन समय निर्धारित कर आन्तरिक जिज्ञासापूर्वक सत्कार के साथ अभ्यास करने की आवश्यकता है।

लक्ष्य-बाधक मान

'प्रयोजन मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् मन्द से मन्द बुद्धि वाला भी प्रयोजन के बिना कार्य मे प्रवृत्त नही होता। प्रयोजन भी एक प्रकार का लक्ष्य होता है। जिसकी जितनी क्षमता, योग्यता होती है वह उतना और वैसा ही लक्ष्य निर्धारित करता है। उसमे अच्छापन भी होता है एव बुराई भी। किसी भी लक्ष्य को साधने के लिए अपने जीवन को विनम्र बनाना ही पडता है। उसके बिना लक्ष्य की सिद्धि नही होती। किंतु मानव का स्वभाव प्राय मान से अनुरजित रहता है। जरा-सी भी उपलब्धि हुई नही कि मानव का मन अहकार की वृत्ति मे लिप्त होने लगता है और लक्ष्य की सिद्धि को कर स्वल्प उपलब्धि को ही लक्ष्य मान लेता है। परिणाम यह होता है कि लक्ष्यपूर्ति से जो सप्राप्ति होने वाली थी उसकी तुलना मे वह यत्किंचित् भी प्राप्त कर नही पाता। जिस उपलब्धि के कारण अह उभरा था वह उपलब्धि भी समाप्त हो जाती है। वह न इधर का रहता है, न उधर का। न लक्ष्य की सिद्धि कर पाया और न उपलब्धि को सुरक्षित ही रख पाया। अतएव साधक को अपने साध्य के प्रति सदा सर्वदा निष्ठा रखते हुए नम्रतापूर्वक उस के प्रति समर्पित होकर चलना चाहिए। साध्य भी अस्थायी-विनश्वर स्वभाव वाला नही होना चाहिए। स्थायी, अविनाशी एव चरम लक्ष्य को सदा सर्वदा सम्मुख रखते हुए समीक्षण दृष्टिपूर्वक व्यवहार की निष्ठा रख कर तदनुरूप क्रियान्विति मे तन्मयता लाना नितान्त

अनुप्राणित होने के कारण आध्यात्मिक बल की दृष्टि के साथ ही मन प्रफुल्लित-प्रसन्न रहता है। जो जीवन व्यवहार सद्भावनापूर्वक बनता है वह आसपास के वायुमण्डल पर गहरा प्रभाव डालता है। इर्दगिर्द का जन समुदाय उसके प्रति आदरान्वित होता है। उस पुरुष का सत्त्व अन्य के लिए आदर्श सबल का काम करता है। क्योकि धर्म से अनुप्राणित नीति प्रत्युपकार की भावना से रहित होती है। अर्थ परायणता से परे होती है। ऐसी नीति मे यश-कीर्ति आदि की कामना या भौतिक लाभ की लालसा नही रहती। उस नीति की विद्यमानता मे प्रति-पक्षी या अप्रतिपक्षी का समन्वय समीक्षण के साथ बनता है। इस प्रकार के जीवन-व्यवहार से आत्मबल, मनोबल प्रबल बनने के साथ ही शारीरिक बल भी उनका अनुसरण करने लगता है। उस प्रक्रिया का प्रभाव मन एव मानसतत्र को आकर्षित करता है। मानसतत्र शरीर के प्रत्येक तत्र को प्रभावित करता है, जिससे शारीरिक, वाचिक तथा बौद्धिक शक्ति का भी सचय होने लगता है एव जीवनविकास मे चार चॉद लग जाते है। किन्तु मान इस प्रकार के उदात्त जीवन का सहारक बनता है। मान के स्फुलिग जीवन के किसी कोने मे क्यो न गिरे, असावधानी रहने पर धीरे-धीरे विस्तृत आकार को धारण कर समग्र जीवन को उसकी उदात्तता, शुचिता एव समृद्धता को भस्मसात् कर देते है। मान की सत्ता जम जाने पर नीति मे स्वार्थ एव प्रत्युपकार पाने की भावना का विष घोलना प्रारम्भ कर देती है। फिर उसकी प्रवृत्ति सिद्धि-वधू की अपेक्षा यशकीर्ति स्वरूपा कुलटा को वरने के लिए अधिक सक्रिय बनती है। ऐसी नीति धर्मशून्य होने से व्यक्ति के जीवन को खतरा पहुँचाती है। धर्मविहीन नीति द्विरगी होती है। वह अनेक रूप मे प्रकट हुआ करती है। ऐसी नीति का अनुसर्ता पुरुष अपने जीवन मे समरसता, एकरूपता ला नही पाता।

इस प्रकार की नीति अन्तर के किसी भी क्षेत्रविशेष मे क्यो न रहे, वह मान का अनुसरण करने वाली होती है। अन्तर मे बैठा हुआ मान अपने आपको प्रसिद्ध करने के लिए विविध उपाय करता रहता है। उस मान की वृत्ति मन को दूषित किये बिना नही रहती। मन दूषित होने से मानसतत्र भी उससे अप्रभावित नही रहता। उसकी जड भावमन मे रही हुई होती है, क्योकि मान सबधी कर्म-वर्गणाएँ आत्म-प्रदेशो के साथ ओतप्रोत रहती है। वे भावमन को अनुरजित करने मे पीछे नही रहती। जब मान का प्रभाव आत्मप्रदेशो एव भाव-मन तक व्याप्त हो जाता है तब आत्मिक शक्तियाँ क्षीण हो कमजोर बनने लगती है। परिणामस्वरूप भावमन का समीक्षण नही हो पाने से उसमे नियन्त्रणशक्ति नही रहती। अनियन्त्रित अवस्था मे भावमन द्रव्यमन के साथ सयुक्त होकर मान सबधी प्रदूषण तैयार करता है। वह प्रदूषण शारीरिक तत्रो को प्रभावित करता है। और उस मान का अनुसरण करने वाली नीति धर्मविहीन होकर मान की क्षुधा शान्त करने के लिए मन मे विविध विचारो का सर्जन करती है।

हुआ है। इस बन्धन की मूल भित्ति विकारमय अध्यवसाय है। अध्यवसाय विविध परिस्थितियो मे अनेक प्रकार के बनते है। उन अध्यवसायो मे अन्य अनेक हेतुओ के अतिरिक्त मान भी कई दृष्टियो से एक प्रमुख हेतु है। इसकी प्रमुखता मे कर्म-बन्धन भी अधिक होते है। तथा निकाचित कर्मों के बन्धनो मे भी मान अपना प्रमुख पार्ट अदा करता है। जब-जब भी मान को चुनौती मिली, तब-तब इसने अपनी सुरक्षा के लिए अपने साथी क्रोध को आगे कर दिया। मानो इसी को अस्त्र बनाकर मान नही देने वाले पर क्रोधाग्नि की बरसा की। कस, कालिनाग, जरासघ एव शिशुपाल इसके प्राचीन प्रतीको मे से कुछ है। अतीत शताब्दियो मे अन्वेषरण करने पर अन्य अनेक प्रतीक पाये जा सकते है। वर्तमान मे भी चीन, रूस, अमरीका आदि देशो के नेता इसके प्रभाव से अछूते नही है। उन लोगो के अतिरिक्त अनेक आत्माओ के विविध प्रकार के कर्मबन्धन, सामाजिक रीति-रिवाजो के बन्धन, व्यापार सबधी नीतियो के जटिल बन्धन, पेचीदे कानूनो के बन्धन भी हैं। प्रारिणयो का जीवन इन अनेकानेक बन्धनो से अधिकाधिक ग्रस्त होता जा रहा है। परिरणामस्वरूप विचारो की विविध प्रकार की जटिलता, कुटिलता, विलासिता, धनलोलुपता, यशो-कीर्ति की लिप्सा, एक दूसरे को पछाडने की दुर्नीतिया वासनाओ की उद्दाम दासता आदि हेतुओ के कारण मानव मे विविध प्रकार की ग्रन्थियाँ निर्मित होती जा रही है। इन ग्रन्थियो के बन्धन से जकडा हुआ जनसमुदाय विविध प्रकार के रोगो से इतना ग्रस्त बन गया है कि जिनका निवारण नही हो पा रहा है। कई तो असाध्य रोगो से पीडित होते हुए अपने जीवन का ही नाश कर डालते है। कई रोगनिवृत्ति के उपायो की बदौलत अन्य अनेक रोगो को पैदा कर लेते है। दु साध्य जटिल रोगो के निदान को खोजने पर उनकी जडो मे मुख्यतया मान ही पाया जायेगा। अतएव इन सब दुरवस्थाओ से मुक्ति पाने के लिए सम्यक् निदान करने वाले मानवो की नितान्त आवश्यकता है। ऐसे मानव तभी निर्मित हो सकते हैं जब कि इस विषयक विज्ञान की अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियो को शिक्षित किया जाय। इसके लिए वर्तमान मे प्रचलित शिक्षा प्रणाली काम नही आ सकती एव अपूर्ण व्यक्तियो द्वारा निर्मित साहित्य भी पूर्ण सहायक नही हो सकता। किन्तु इस विषय की स्वतत्र शिक्षणशालाए, आश्रमादि का निर्माण करना आवश्यक है। आध्यात्मिक, प्रणालीयुक्त मनोविज्ञान के तौर-तरीको से कोमल वयस्क छात्रो को बाल मदिर की तरह शिक्षण दिया जाय, तरुण एव प्रौढ पुरुषो के लिए उनके अनुरूप विधाए तैयार की जाय, वृद्धो के लिए अनुकूल वातावरण के साथ सस्कारो को परिवर्तित करने का सत्पुरुषार्थ किया जाय। इसका प्रारम्भ आन्त-रिक रुचि वाले साधको से चालू किया जाय। वे साधक समीक्षण ध्यान की विद्या से सर्वप्रथम अपने आपका अनुशीलन करे। स्वय के भीतर के सभी बन्धनो को तटस्थ भाव से विदित करे। एव ग्रन्थिभाव को विमोचित करने के लिए उसके विधि-विधानो को योग्यतम साधको के सान्निध्य मे सीखे। तदनन्तर

मे पीछे नही रहेगी । मानस-तत्र का मान सबधी विकार परिस्थितिवश न्यूनाधिक रूप मे कभी-कभी हटता हुआ भी दृष्टिगत हो सकता है, पर उसका सर्वथा उन्मूलन नही होगा । जडो के उन्मूलन के अभाव मे इसको उखाडने का प्रबल पुरुषार्थ भी किया जाए तो भी वह उखडेगा नही । हाँ, वह रूपान्तरित हो जायेगा । समय आने पर पुन अपना प्रभाव दिखाने मे पीछे नही रहेगा । रूपान्तरण विनाश नही किन्तु परिवेश का परिवर्तन मात्र है, अपनी आकृति को बदल कर अन्याकृति मे रहना है । अतएव साधक को इसका उन्मूलन करने के लिए सतत जागृत रहना चाहिये तथा समीक्षणदृष्टि से अवलोकन करने का निरन्तर प्रयास चालू रखना चाहिए । समीक्षण दृष्टि की ऐसी शक्ति सम्पादित कर लेना है जिससे रूपान्तरित मान को भी मान के असली रूप मे पहचाना जा सके, और उसका निष्कासन किया जा सके । इस विकार के समूल उन्मूलन की शक्ति यदि चैतन्य देव के अन्तरतर मे अभिव्यक्त हो जाये तो उस श्रेणी के अन्य विकारो का भी अवलोकन करने मे सुविधा हो सकती है । पर ऐसा करने के लिए आत्मिक स्वभाव का विज्ञान नितान्त आवश्यक है । निज स्वभाव की पहचान के बिना मान सम्बन्धी विकारी भाव की पहचान नही होगी, तब तक नकली जवाहरात की भी जानकारी नही हो सकती । उसके अभाव मे नकली जवाहरात का एव काच के टुकडो का अवमूल्यन नही किया जा सकता । उनका अवमूल्यन किये बिना असली जवाहरात से उनका विलगीकरण भी नही हो पायेगा । यह कार्य समीक्षण ध्यान की विद्या के बिना होना कतई शक्य नही ।

दुर्भेद्य-ग्रन्थि मान .

ससार मे ग्रन्थियाँ, गठाने कई प्रकार की होती है । कपडा, रस्सी आदि की ग्रन्थियाँ सहज रूप से खोली जा सकती है । उनकी अपेक्षा बारीक तन्तुओ से बनी जाल की ग्रन्थियाँ खोलना अधिक कठिन है । उनकी अपेक्षा भी बासादि वृक्षो के मूल की ग्रन्थियाँ, अति दुरूह है । उनका विमोचन होना सहसा आसान नही । उन सबसे भी बढकर मिथ्यात्व की ग्रन्थि है । यानि जो वस्तु जैसी नही है उसको उस रूप मे मानने रूप ग्रन्थि मिथ्यात्व की ग्रन्थि कहलाती है । आत्मा की मूर्च्छित अवस्था मे यह ग्रन्थि रहती है । इस ग्रन्थि के कारण चैतन्य देव अनादि कालीन प्रगाढ अज्ञान-निद्रा मे सोया हुआ है । ऐसी आत्मा को जागृत करने हेतु कितना ही उपदेश दिया जाय किन्तु उस उपदेश को ऐसी आत्माए सुन ही नही पाती । मिथ्यात्व की गम्भीर मूर्च्छा की सघनता मे साक्षात् तीर्थकर देव भी उपदेश प्रदान करे तो भी कइयो को तो वह उपदेश भी जगा नही सकता । वैसी ग्रन्थियाँ निकाचित बन्धन से युक्त होती है । उस बन्धन को विमोचित करने के लिए कोई ऐसा साधन नही कि जिससे उनका विमोचन किया जा सके, यद्यपि ऐसी ग्रन्थियाँ चैतन्य देव ने ही बाधी है । उस बन्धन के साथ उसकी अवधि का भी निर्धारण हुआ है । निकाचित कर्मग्रन्थि की स्थिति की

शुद्धाचार एवं विचारवान् महापुरुषों की वाणी की अवहेलना करता है वह स्वयं ही की अवहेलना करता है। वह अनेक प्रकार की समस्याओं में उलझ कर स्वयं की शान्ति को अशान्ति में परिणत कर लेता है। साथ ही अन्य अनेक प्राणियों को अशान्ति के गर्त में ढकेलने का कुप्रयास करता है। महापुरुषों एवं उनके उपदेश का अपलाप तो नहीं होगा, किन्तु ऐसा पुरुष स्वयं की आत्मा को निविड कर्मबन्धन की अवस्था में परिणित कर आयुबन्धन के समय दुर्गति का बंध अवश्य कर लेगा। अतएव सच्चे साधक को ज्ञान से मान का पोषण कदापि नहीं करना चाहिए, प्रत्युत् समत्वभाव-पूर्वक अभिमान का समीक्षण करते हुए जीवन का सदुपयोग करना चाहिए।

विचार (ज्ञान) का अपलापकर्ता मान .

सत्पुरुषो के सदुपदेशो का सयोग मिलता रहे, योग्य खुराक मिलने का प्रसग बनता रहे तो यह वृत्ति सद्गुणमय बन अन्यान्य सद्गुणो की वृद्धि कर सकती है। वृद्धि भी इतनी हो जाती है कि परिपूर्ण मानसतत्र मे इसका आधिपत्य स्थापित हो जाता है, फिर वह अन्य तत्रो को भी प्रभावित कर लेती है। जीवन के जब समग्र तत्र प्रभावित हो जाते है तब शरीर के प्रत्येक अवयव मे से सद्गुणो की आभा (किरणे) छिटकने लगती है। उसके इर्द-गिर्द के वायुमण्डल मे रहने वाले प्राणी उससे प्रभावित हुए बिना नही रहते। उसके सद्गुण की आभा वायुमण्डल मे प्रसारित होती रहती है और आगन्तुको के जीवन पर अज्ञात रूप से असर डालती रहती है। स्वय के जीवन मे परम सुख और शाति का सचरण तो उससे होता ही है और दूसरो मे भी उस प्रकार की भावनाएँ सचरित होने लगती है। अत इस प्रकार की वृत्ति प्रत्येक मानव मे अकुरित हो, पल्लवित पुष्पित फलित हो जाय तो समग्र ससार का वायुमण्डल ही बदल जाय, दुख दैन्यादि के निष्कासन के साथ ही राग-द्वेष, ममत्वादि जनित समस्याएँ भी समाहित हो जाएँ।

ऐसी स्पृहणीय स्थिति उत्पन्न होने पर सघर्ष, विग्रह क्लेश आदि शब्द कोषो मे ही उपलब्ध हो, मानव-जीवन मे नही। पर क्या किया जाय ! जीवन मे जैसे सद्वृत्तियो का सद्भाव है वैसे ही असद् वृत्तियो का भी अस्तित्व है। समय-समय पर इनका परस्पर सघर्ष भी चलता रहता है। किंतु सामूहिक रूप मे दुर्वत्तियो का प्रभाव इतना अधिक व्याप्त रहता है कि जिससे सद्वृत्तियो का विकसित होना तो दूर उन्हे खुराक मिलने का ही प्रसग नही बनता। परिणामस्वरूप आस-पास का जन-समुदाय भी दुर्वृत्तियो से ओत-प्रोत रहता है। वायुमण्डल भी उसी रूप मे नवागन्तुक पुरुष को प्रभावित करता रहता है। यही कारण है कि दुख-दैन्यादि अवस्थाएँ बरकरार रहती हैं। उन्ही दुर्वृत्तियो मे से मान की वृत्ति भी एक है। इसमे कठोरता, निर्दयता की अवस्था भी अनल्प रूप से रही हुई है। यह वृत्ति विनय रूप कोमल वृत्ति पर क्रूरता से प्रहार करती है तो विनय की वृत्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। कदाचित् सद्गुणी जनो के घनिष्ठ सम्पर्क-ससर्ग से उसके घाव भरने लगते हैं तो वहा पर भी यह अभिमान की वृत्ति रूप बदल करके उपस्थित हो जाती है। यत्किंचित् सद्-विचारो के श्रवण को लेकर वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है। मैं कैसा कुशल श्रोता हूँ, मेरे समान अन्य श्रोता कोई नही, इस प्रकार श्रोता की पोषाक धारण कर अभिमान विनय-वृत्ति को पुन छिन्न-भिन्न कर डालता है। कदाचित् सतो के सदुपदेश से लँगडाती हुई विनय-वृत्ति गुणो को वरने लगती है, व्रत अगीकार कर चलती है। परन्तु अन्य को व्रत ग्रहण करते नही देखती है अथवा अन्य की स्वल्प वृत्ति को देखती है तो वह मान की वृत्ति धर्म की पोषाक पहन कर विनय वृत्ति को पुन गिरा देती है। कभी किसी को दान देती हुई देख कर विनय वृत्ति

मान के विविध रूप · जाति का गर्व

मनुष्यजन्म के साथ ही मान का जन्म होता है। मनुष्य शरीर जितनी पोषाके धारण करता है, उनसे ज्यादा रूप यह बना देता है। जैसे ही शिशु समझ पकडता है वैसे ही अपने सरक्षको से सुनता है कि हमारी जाति उत्तम है। इसके तुल्य अन्य कोई जाति नही है। यह श्रवण शिशु के मतिष्क मे भली-भाति प्रवेश पा जाता है। जब कभी जाति की चर्चा चलती है तो वह बालक बोल उठता है कि हमारी ही जाति श्रेष्ठ है, अतएव हम ऊँचे है। अन्य सभी जातियाँ हीन हे और हीन जातियो मे जन्म लेने वाले मनुष्य भी हमसे हीन है। वे हमारी समकक्षता मे खडे नही हो सकते है। हमारे बराबर नही बैठ सकते है। ऐसा जाति-मदग्रस्त व्यक्ति जाति के अभिमान से अभिभूत होता हुआ, अन्य को कुछ नही गिनता हुआ, उसी भावना मे गुनगुनाता हुआ इधर-उधर फिरता रहता है। इस प्रकार जातिवाद के रूप मे मान का स्वरूप भी उभरता है।

साधक को चाहिए कि इस प्रकार के मान का समीक्षण करे एव सोचे कि मै इस प्रकार का अभिमान कर अपने आपको तनावग्रस्त बना रहा हूँ, घृणा-जनित पापो का उपार्जन कर रहा हूँ। इस प्रकार की लोकप्रचलित जातियाँ वस्तुत जातियाँ नही है, व्यवसायादि की दृष्टि से जाति रूप से स्थापित हो गयी है। शास्त्रकारो ने जाति का स्वरूप विकास के आधार पर बतलाया है।

जिस जीव को एक ही इन्द्रिय प्राप्त हो, ऐसे समस्त जीवो को एकेन्द्रिय जाति के रूप मे अभिहित किया गया है। उस एकेन्द्रिय जाति के प्राणियो मे कर्मोदय के अनुसार विविध प्रकार की तरतमता रही हुई है। यथा – पृथ्वी ही जिसका शरीर है ऐसे प्राणी पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जाति के रूप मे पहचाने जाते है। किन्तु पृथ्वी-पृथ्वी मे भी बहुत अन्तर पाया जाता है। कोई सुगध युक्त पृथ्वी है तो कोई दुर्गन्धपरिपूर्ण स्वरूप मे रहने वाली पृथ्वी है। कोई मिट्टी के रूप मे है तो कोई पाषाण के रूप मे है। कई रत्न जवाहरात के रूप मे है तो कोई स्वर्ण रजत के रूप मे है, कोई चन्द्र-सूर्य आदि के विमान के रूप मे है। इस प्रकार पृथ्वी जाति मे विविध उप-जातियाँ रही हुई है। मूल्यवान् एव मूल्यरहित आदि अवस्था मे होने पर भी पृथ्वीकायिक जीवो मे परस्पर मे अभिमान की अवस्था दबी हुई रहती तो है किन्तु अभिव्यक्त नही हो पाती। वैसे ही अप्कायिक-पानी ही जिसका शरीर है वे भी एकेन्द्रिय जात्यन्तर्गत है उनमे भी खारापन, मीठापन आदि के रूप मे विभिन्नता रही हुई है।

तेजसकाय–अग्नि ही जिन आत्माओ का शरीर है उनका समग्र समूह तेजसकाय एकेन्द्रिय जाति है। इसमे भी अनेक भेद है। विद्युत् की अग्नि, चूल्हे की अग्नि, भट्टी आदि की अग्नि। इसी प्रकार वायुकायिक ही जिनका शरीर है, वे प्राणी वायुकायिक एकेन्द्रिय जाति मे है। उनके भी विविध भेद-प्रभेद है।

को अन्य कुलो से ऊँचा समझकर गर्व करने लगता है। ज्ञान की न्यूनता के कारण वह यह नही सोच पाता कि विना सद्गुण-कर्म के उच्च कुल की अवस्था कैसे बन सकती है। ऐसी अवधारणा से अनेक अनर्थ घटित हो सकते है। यदि सत्-पुरुषार्थ आदि गुण कर्म के विना ही अमुक घेरे को ऊँचा कुल मान लिया जाए तो गुण गौण हो जायेगे, जिससे कुल के अधर्म रूप कृत्यो को भी मानव धर्म मानकर चलेगा। ऐसे कुल का अभिमान सतान को कुमार्ग पर अग्रसर कर देता है। यथा शास्त्रकारो ने पैतृक परम्परागत पवित्राचरण वाले पितृपक्ष को उच्च कुल कहा है, अर्थात् जिसके पितादि का आचार-विचार शुद्ध हो उसका पुत्र कुल-सम्पन्न कहलाता है। ऐसा कुलसम्पन्न पुरुष प्राण को खतरे मे देख करके भी गृहीत पावन प्रतिज्ञाओ को नही तोडता। तोडना तो अति दूर, उनमे लचक आने जैसी स्थिति भी नही आने देता और न सत्प्रतिज्ञाओ के प्रति अरुचि ही लाता है। कुलसम्पन्नता का बहुत बडा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पुत्र पर रहता है। इसीलिए पाच पदो के गुणो के प्रसग से जाति-सम्पन्नता, कुलसम्पन्नतादि विशेषणो का उल्लेख किया गया है। अत' पुरुप को कुलो की वास्तविकता का समीक्षण कर कुल से सवधित मान से निर्मुक्त होना चाहिए।

बल-मानोद्भव का स्रोत

शरीर की बलिष्ठता के सामर्थ्य को पाकर अज्ञ जन अभिमान मे फूला नही समाता। उस बलमद के साथ जब धनबल और जनबलादि का सयोग मिल जाता है तब बलमद का उद्दीपन विशेष रूप से उभर जाता है। तब हीन वृत्तियाँ परिपुष्ट होने लगती है। बल के अहकार की क्षुद्र वृत्ति के अधीन बन वह अन्यो को हीन दृष्टि से देखने लगता है। दूसरो का तिरस्कार करने के लिए कटिबद्ध बन जाता है। अपने अकृत्य को भी कृत्य मान बल का प्रदर्शन करता हुआ सतुष्टि का अनुभव करने लगता है। अन्य की छोटी सी त्रुटि को विशाल आकार प्रदान कर निरपराध प्राणियो को पीडित करता है, त्रास पहुँचाता है, और कभी-कभी उनका घात भी कर बैठता है। उस समय बलोन्माद की अवस्था रहने से सोच नही पाता कि इसका क्या परिणाम सामने आयेगा, किस रूप मे आयेगा ? क्या यह बल मुझे उस दुष्परिणाम के भोग से बचा सकेगा ? इन तथ्यो को विस्मृत कर पापमय कार्यों मे रुचि रखता हुआ उन्हे निश्शक कर गुजरता है। जब उनके फलोपभोग का प्रसग आता है, उस समय उसे वह अभिमान बचा नही पाता। कृत्यो का परिणाम कभी-कभी शीघ्र मिल जाता है तो कभी देर से भी सामने आता है। उस समय हाय-हाय करता हुआ वह प्राणो का परित्याग करता है। ऐसी घटनाए अनेक बार घटित होती दृष्टिपथ पर सामने आती है। सुना है, मेरठ जिले मे दादरी नामक ग्राम था। शारीरिक दृष्टि का एक पहलवान अपने शरीर को देखकर फूला नही समाता। अन्य को हीन समझ कार्य करता रहता। जब दूध की हण्डिया रखकर शारीरिक बल को बढाने के लिए कुश्ती

वाले आत्मिक शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए एक क्षण का भी विलम्ब नही करता । यथा—सनत्कुमार चक्री ।

जब तक शारीरिक रूप का गर्व परिपोषित होता रहा तब तक चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य का उपभोग करता रहा । जैसे ही शारीरिक रूप लावण्य की विनश्वरता का अवबोध हुआ त्यो ही तुरन्त नासिका के श्लेष्म की भांति परिवार सहित चक्रवर्ती का वैभव त्याग शारीरिक रूप की भी सर्वथा उपेक्षा कर डाली तथा निज स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए समता की पूर्ण साधना साधते हुए मान के मूल का निर्मूलन कर डाला ।

तप आधि-व्याधि की अमोघौषध

तप आत्मशुद्धि के लिए पवित्रतम रसायन है । इस रसायन का आसेवन करने वाला मुमुक्षु साधक अपने अन्तरग मे रहे कर्म-कालुष्य के अशौच को विशुद्ध करता है । यह रसायन केवल शरीर को ही सस्पर्शित करने वाली नही अपितु अन्तरग को सस्पर्शित कर उसे भी विशुद्ध बनाने वाली है । अन्तरग स्थिति को सस्पर्शित करने वाली तप रूप जो रसायन है वह जन साधारण की दृष्टि मे नही आती, किन्तु उससे कर्मरूप अशौच की विशुद्धि होती रहती है और आत्मा की निर्मलता, पवित्रता, स्वच्छता अभिव्यक्त होती जाती है । विवेक का आवलम्बन लेकर तपश्चरण रूप रसायन का सेवन पथ्य के साथ करने से पाप के कालुष्य से ओतप्रोत वृत्तियो से वह निवृत्त बनता हुआ जीवन के निगूढ तत्त्व को पहचान उत्तरोत्तर विकास की तरफ गतिशील बनता रहता है । जीव की समग्र स्वाभाविक शक्तियाँ उभर-उभर कर सामने आ उपस्थित होने लगती है । आत्मा विविध ऋद्धियो एव सिद्धियो से सम्पन्न बनने लगता है । जिससे मानवीय जीवन से सम्बन्धित समग्र आधि, व्याधि रूप समस्याओ का सम्यक् समाधान स्वत. सहजतया हो जाता है । वह तप शील साधक देवो, दानवो, नरेन्द्रो और देवेन्द्रो तक का अर्चनीय, वदनीय, पूजनीय तथा आदरणीय हो जाता है । ऐसे तप रूप रसायन का किसी भी भौतिक पदार्थों एव रासायनिक द्रव्य से मूल्य नही आका जा सकता ।

इस लोकोत्तर सिद्धि प्रदायक तप रूप रसायन की सम्यक् समझ एव सेवन विधि का विज्ञान न होने के कारण कई लोग मानो कौए को उडाने के लिए हीरा फैंकते है । उसका सेवन करके भी उसके द्वारा अपने मान की सपुष्टि करते है । वह योग्य नही हैं, क्योकि यह तप शुद्ध रसायन रूप साधन है । इसको अशुद्ध मानवृत्ति से सम्बन्धित करना घोर मूढता है ।

यह गाय के दुग्ध को आक के दूध के साथ सयुक्त करने सरीखी बात है ।

है और पुण्य की मात्रा स्वल्प रह गयी है। अब तू सद्गति मे जाने जैसी अवस्था मे नही रहा।' इसी प्रकार यदि समीक्षण के द्वारा स्वल्प मान रूपी दुर्गुण को नही देखा गया तो उल्लिखित रूपक की दशा बन सकती है। अत साधक को सतत जागरूक रह कर अनवरत स्वल्पातिस्वल्प मान का भी समीक्षण करते हुए उससे विलग रहना चाहिए। उसे आदर-सत्कार न देते हुए अपने जीवन मे तप रूपी रसायन का सेवन कर उसकी जड को ही सर्वथा उखाड फेंकने का सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिये।

लाभ—मद का सर्जक

कमजोर मानव किसी भी वस्तु के लाभ को पचा नही सकता। लाभ को पाकर वह गर्वित बन जाता है। यह सोचता है कि मुझे इस प्रकार का विपुल लाभ प्राप्त है। मेरे समान लाभ प्राप्त करने वाला अन्य कौन हो सकता है? लाभ केवल अर्थ का ही नही होता, विद्या का लाभ, परिवार का लाभ, यश-कीर्ति का लाभ, शारीरिक स्वस्थता का लाभ आदि कई प्रकार के लाभ होते है। उन लाभो को क्षुद्रप्रकृति या कमजोर मन स्थिति वाले हजम नही कर पाते। वे इसे पाकर इतना वेमान हो जाते है कि जिससे दूसरो को कुछ नही गिनते, उन्हे तिरस्कृत करते है।

लाभ-मद का शिकार मानव अपनी अपेक्षा हीन-स्थिति वाले पुरुषो को तुच्छ समझता है, उनकी अवमूल्यना करता है, उपकार का एहसान जतलाता है, उन्हे हर समय दवाने की चेष्टा करता है। उन्हे अपनी अधीनता मे रखना चाहता है। उनकी वात न सुन कर दुत्कार देता है। अपने आपको सर्वेसर्वा समझने लगता है परिणाम यह होता है कि अपनी गर्वोन्मत्तता मे शुद्धाचार-विचार का विलय करता रहता है। इससे पुण्य का ह्रास और पाप की अभिवृद्धि होने लगती है, जिससे उसके लाभ की स्थिति भी उससे विमुख बनने लगती है और वह स्वय जिनका तिरस्कार करता था, समय आने पर उन जैसा बन जाता है। फिर तो आर्त-रौद्र ध्यान की परिणति उत्तरोत्तर बढती रहने से अशाति बढ जाती है। हाय हाय का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है, वह दु खानुभव करने लगता है। अत प्रत्येक भव्यात्मा को लाभ का मद कभी नही करना चाहिए। अपने जीवन का समीक्षण करते हुए लाभ की उपलब्धि तथा उसके विनश्वर स्वभाव का चिन्तन-मनन कर निर्ममत्व भाव को साधना साधते समय अपने से लाभ मे जो श्रेष्ठ है उनको मध्यस्थ भाव से देखने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इस पद्धति से लाभ के मद से विनिर्मुक्त बना जा सकता है और लाभ का सदुपयोग भी किया जा सकता है। अत प्रत्येक भव्य प्राणी को उपर्युक्त रीत्या समीक्षण कर मान के सर्जक लाभ के प्रति उपेक्षित बन उससे निर्लिप्त रहते हुए समत्व के साथ उसका सदुपयोग करना आत्मविकास के स्रोत-द्वार मे प्रवेश करने के तुल्य है।

सुरक्षित रखते हुए कुछ अध्ययन-अध्यापन करता-कराता हूँ तो इसमे कौनसा असाधारण कार्य कर रहा हूँ ! जितना मै श्रुत का ज्ञान कर पाया हूँ उससे कई गुणा अधिक सुधर्मा-स्वामी तथा अन्य गणधरो का था। उन महापुरुषो ने विराट् श्रुत को अपने जीवन मे स्थान देते हुए अभिमान नही किया, किन्तु उसके फलस्वरूप अन्य दोषो को भी विसर्जित कर दिया। यह सम्यक् श्रुत जीवन के दुर्गुणा-दोषो को परिमार्जित करने के लिए है न कि बढाने के लिए। अतएव मेरे जीवन मे कदाचित् अज्ञात रूप से, कही पर भी श्रुत को लेकर मान का अकुर उभरता हो तो उसको मै समीक्षण दृष्टि से अन्वेषित कर बाहर कर दूँ और निरभिमान वृत्ति से साधना मे तन्मय बन जाऊँ। रहा प्रश्न लौकिक श्रुत का वह अपूर्ण व्यक्तियो की देन है। उसमे तारतम्य रहता ही है तथा उनमे परिवर्तन-परिवर्धन भी समय-समय पर होता रहता है। उसका कोई निश्चित निर्णायिक रूप नही होता। अतएव लौकिक श्रुत के अध्ययन को लेकर अभिमान करने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। इस प्रकार साधक चिन्तन करता रहे। समता से जीवन को ओतप्रोत बना समीक्षरण दृष्टि को उत्तरोत्तर विकसित करूँ, यही उसकी भावना सदा बनी रहनी चाहिए।

ऐश्वर्य—मानवर्धक

मानव विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करता रहता है। सासारिक मनुष्यो को ससार का वैभव अच्छा लगता है। उसके लिए वे अपने जीवन को प्राय समर्पित कर देते है और अनेक विधियो से वैभव-सम्पादन की प्रक्रिया भी चालू रखते है। उसमे दुनिया को बताने के लिए भले ही कुछ नैतिकता का उद्घोष किया जाता हो, किन्तु वस्तुत तथाकथित नैतिकता प्राय धर्म से विहीन होने के कारण अनैतिकता की श्रेणी मे ही गिनने योग्य बनती है। क्योकि उस प्रक्रिया मे झूठ प्रपचादि कूटनीतियो का अम्बार सा लग जाता है। इससे आत्मा का अवमूल्यन भी विशेष होता है। नवीन-नवीन कर्म बन्धनो से चैतन्य देव की शक्तियाँ आच्छादित होती रहती है। चैतन्य देव की उपेक्षा कर कदाचित् कुछ वैभव पा लिया तो पुरुष सोचता है कि मै बहुत बडा वैभवशाली हूँ, मेरी तुल्यता मे अन्य कोई आ नही सकता। इस प्रकार अभिमान वृत्ति को पनपाता हुआ चलने लगता है। सयोगवश कभी ग्रामपच, सरपच, चेयरमैन आदि अधिकारो के साथ विधायक (एम एल ए), एम पी मिनिस्टर, मुख्यमत्री, प्रधानमत्री, राष्ट्रपति आदि अधिकारो से सम्पन्न हो गया तो मान आसमान को छूने लगता है। कोई अध्यापक, प्रोफेसर, डॉक्टर, बैरिस्टर, वकील या सुप्रीम कोर्ट आदि का जज हो गया अथवा इसी प्रकार के न्यूनाधिक मात्रा मे अन्य ऐश्वर्य को वर लिया तो अपने आपको सभाल नही पाता, हवा मे उडने लगता है। व्योम से बाते करने लगता है। धराधाम को प्रकम्पित करता हुआ स्वय से न्यून ऐश्वर्य वालो को नचाने लगता है। उन्हे पद-दलित कर हीन बनाने की कोशिश करता रहता